रामाश्रम सत्संग का डिजिटल प्रकाशन

संत प्रसादी

(भाग-७)

परम संत डॉ० करतार सिंह साहब

के प्रवचनों का संकलन

रामाश्रम सत्संग प्रकाशन (रजि०)

गाजियाबाद (उ० प्र०)

प्रकाशक :

अध्यक्ष एवं आचार्य रामाश्रम सत्संग (रजि०),

गाजियाबाद (उ०प्र०)

सर्वाधिकार सुरक्षित :

प्रथम संस्करण १००० (सन २००१)

डिजिटल संस्करण - (२०१९)

डॉ० शक्ति कुमार जी

आचार्य/अध्यक्ष, रामाश्रम सत्संग, (रजि.)

ग़ाज़ियाबाद (उ० प्र०)

मुद्रक :

गायत्री ऑफसेट प्रेस, ए-६६, सेक्टर-२, नोएडा २०१३०१

विषय सूचि

1. परमात्मा का मन्दिर : मानव शरीर

2. आचरण की नींव पर परमार्थ का मन्दिर

3. कर्म फल से मुक्ति - कब और कैसे प्राप्त हो ?

4. संसार रूपी जलाशय में साधक कमल सामान

5. उपासना और मौन साधना से अपनी बुराइयों का त्याग होता जाए

6. गुरु भक्ति का कान्ता भाव द्वारा प्रभु का दर्शन

7. सत्संग की साधना का सहज उपाय

8. गुरु कृपा ग्रहण करने के लिए तत्परता चाहिए

9. सद्गुरु का सम्मान एवं समर्पण- सफलता का सबसे सरल साधन

10. गुरु के आदर्श का ध्वज फहराते बढे चले

11. सत्संग का अभिप्राय है : गुरु (प्रभु) की समर्पित सेवा

12. जीवन का लक्ष्य पाने के लिए साधक का प्रयास गम्भीर हो

13. विश्व प्रेममय जीवनचर्या भी परमात्मा की पूजा समान है

प्रकाशक की और से

बड़े सौभाग्य की बात है कि पूज्य संत डा० करतार सिंह जी की प्रवचन-प्रसादी का एक और संकलन प्रेमी पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है । साथ हीं हर्ष की बात यह भी है कि इस पुस्तक का विमोचन-वितरण नव वर्ष २००१ की वसंत पंचमी पर, पूज्य दादा गुरु महात्मा रामचन्द्र जी महाराज की जन्म तिथि के सुअवसर पर करने का प्रयास किया जा रहा है ।

पूज्य भाई साहब के अमूल्य उपदेशों की यह निधि 'संत प्रसादी के प्रथम पांच भागों में तो लगभग १०-१५ वर्ष पूर्व से हीं उपलब्ध हो रही थी । यह कठिन कार्य श्रधेय (स्वर्गीय) डा० महेश चन्द्र जी ने अपने अथक परिश्रम, सूझ-बुझ और कार्य कुशलता से सम्पन्न किया था ।

इतने समय के पश्चात विगत वर्ष १९९९ में दीपावली पर इसी श्रृंखला नई कड़ी - 'संत प्रसादी' (भाग-६) पेश की गई थी जिसका सुधि पाठको ने अत्यंत उत्साह उत्सुकता से स्वागत किया । इसी उत्साह और ललक की प्रेरणा से तथा पूज्यवर की अनुमति स्फूर्ति पाकर संत प्रसादी का यह सातवाँ भाग अपने राम-संदेश के वर्तमान सम्पादक, श्री सतीश वर्मा जी ने उसी मनोयोग से तैयार किया है, जैसा कि छठे भाग के चयन, संकलन व सम्पादन के समय किया था ।

आशा है रामाश्रम सत्संग के प्रकाशित साहित्य भंडार में इस ३२वीं पुस्तक की बढ़ोत्तरी भी सत्संग प्रेमी भी-बहनों के लिए लाभदायी सिद्ध होगी । नववर्ष २००१ और वसंत पंचमी के भंडारे की बधाई सहित !

गाज़ियाबाद - विनीत : डा० शक्ति कुमार सक्सेना

संतों की वाणी

एक राम दशरथ घर डोले

एक राम घट-घट में बोले

एक राम का सकल पसारा

एक राम तिरगुन से न्यारा

प्रभु की देन का शुक्रिया

प्रभु की देन का शुक्रिया यह है कि उसका सही इस्तेमाल किया जाए और वो ये है कि उन कर्मों का त्याग कर दें जिनसे प्रभु की देन या कृपा में गिरावट आती हो और ऐसे कर्म करते रहें , जो उसे प्यारे हैं ।

- पूज्य दादागुरु महात्मा रामचन्द्र जी महाराज

केवल एक प्रेम का ही नाता

एक प्रेम के नाते को छोड़कर मैं और किसी नाते को नहीं जानता - केवल प्रेम और वह भी निस्वार्थ प्रेम । जो लोग बिना स्वार्थ के मुझे प्रेम करते हैं - चाहे वो सज्जन हो या दुष्ट - मैं उन्हें प्रेम करता हूँ । वे मेरे हैं और मैं उनका । वो हमेशा मुझ पर भरोसा रख सकते हैं ।

- पु० गुरुदेव डा० श्री कृष्णलाल जी साहब

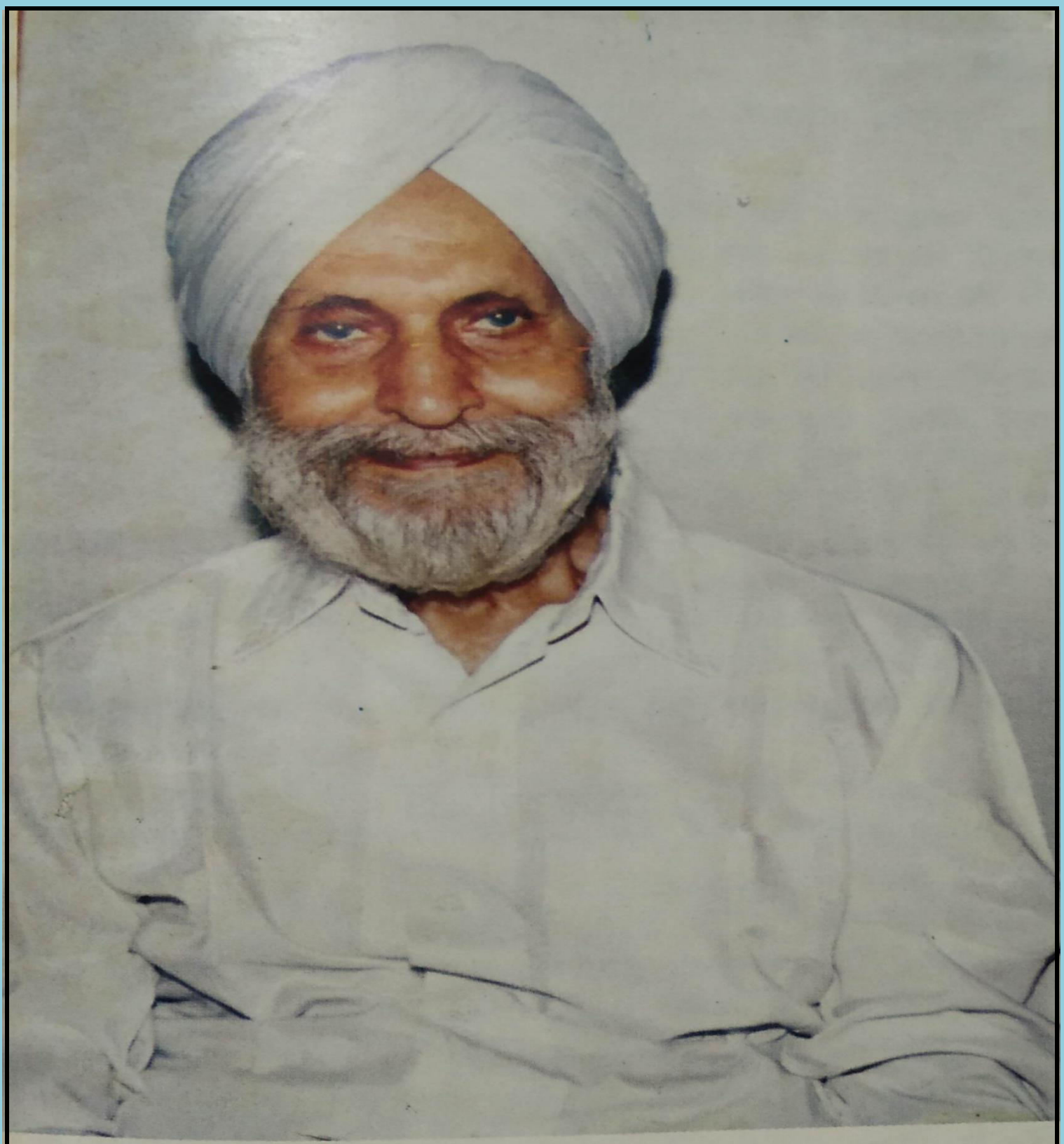

अहंकार से प्रभु नहीं मिलते। चाहे आप कोई भी साधन करें – दीनता को तो अपनाना ही होगा। जिसके भीतर में सच्ची दीनता है वह स्वयं भी प्रसन्न रहता है और दूसरों को भी आनंदित करता है। प्रभु को दीनता बहुत प्यारी है।

– डा. करतार सिंह

(परम) आत्मा का मन्दिर : मानव शरीर

प्रभु की ऐसी लीला है कि उन्होंने हमे जो सुंदर शरीर दिया है यदि इसकी हम भीतर से जांच करें तो आदमी विस्मय में चकरा जाता है । कितने ही नही अंग संचालन के तन्त्र (systems) है जिनके द्वारा विविध अंग-प्रत्यंगों व अवयवों की अनेक क्रिया-प्रतिक्रियाएं होती रहती है जैसे कि श्वांस-निश्वांस की अटूट प्रणाली या हृदय द्वारा रक्त को शुद्ध करके समूचे शरीर को पहुंचाते रहना । हम खाना खाते हैं, भीतर में जाता है, पचता है फिर निकलता है फिर उस खाने से हमारे लिए रक्त बनता है । आँखे देखिये ! कितने हीं विशेषज्ञ (Secialist) है । इस एक आँख के लिए नाड़ी तन्त्र (Nervous System) में तो लाखों नाड़ियाँ हैं । और भी अनेकों सूक्ष्म बातें हैं जिनकी गढत परमात्मा करता है । प्रभु ने जितने अंग बनाये हैं, वही तो देख भाल, संचालन और रक्षा करता है । तब यह शरीर चलता फिरता है । सही भाँति-भांति के अनगिनत काम पल पल सोने के समय भी आजीवन करता रहता है । इस शानदार बनावट में यदि एक भी चीज़ से न हो तो डॉक्टर कहने लगता है इसका Nervous System खराब हो गया है या इसका पेट दिल या दिमाग खराब हो गया है । उस कलाकार की कला देखिए कितने अद्भुत और अनुपम है - कैसी विचित्र रचना है इस मानव शरीर की । तब भी यह विचित्र वस्तु जो हमें प्राप्त है इसके विषय में हमें खूब अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि यह सुंदर वस्तु भी सदा अपनी नहीं रहेगी । इसके भीतर में अपना जो वास्विक रूप अर्थात आत्मा है उसका ज्ञान एवं अनुभव प्राप्त करना होगा ।

कुछ लोग आत्मा को हृदय में मानते हैं, कुछ लोग सिऱ के ऊपर के भाग में 'सहस्रदलकंवल' में मानते हैं, कुछ लोगों का मानना है कि आत्मा सारे शरीर में है । एक और धारणा है कि उसका मुख्य केंद्र या स्थान तो एक जगह है बाकी सारे शरीर में उसका प्रसार होता रहता है । इस तरह उसकी शक्ति या प्रकाश से सारे शरीर का पालन पोषण होता रहता है । मरते समय पाँव के अंगूठे से यह आत्मा सारे चक्रो (कुछ लोग इनकी संख्या छह मानते हैं तथा कुछ और अधिक मानते हैं) से होती हुई सहस्रदलकंवल से निकलती है । आत्मा अंदर-अंदर जहाँ 'सुषुमना' नाडी का अंतिम नाड़ी का अंतिम शीर्ष स्थान है, वहां जाकर फूटती है, जिस सिर के हिस्से को लोग मृत व्यक्ति की कपाल - क्रिया करते समय बांस से फोड़ा करते हैं ।

.बहरहाल जो भी हो, सभी ज्ञानी महापुरुषों ने किसी ने किसी तरह इस तथ्य को समझाया है, परन्तु इसमें तर्क-वितर्क नहीं करना चाहिए । सत्यता यह है कि आत्मा शरीर में है और इस शरीर रूपी मंदिर में परमात्मा, आत्मा के रूप में मौजूद हैं । और उसी के कारण हीं हम शारीरिक स्थूल रूप में जीवित हैं । आत्मा न हो तो हम मर जायेंगे । हमारे जीवन का मूल आत्मा है जो कि प्रभु का अंश है ।

आत्मा के ऊपर इसे ढक देने वाले जो आवरण है उनको यत्नपूर्वक हमें मरने से पहले उतार देना चाहिए । यह जो श्मशान भूमि में जाकर घड़ा फोड़ते हैं तथा क्रियाकर्म करते हैं, वह पहले ही फोड़ लेना चाहिए । उनका वास्तविक तात्पर्य जीवन में समझ लेना चाहिए । वास्तव में समझना यह है कि "मैं आत्मा हूँ" । समझना बुद्धि से नहीं, अनुभव से पहचानना है । शंकराचार्य जी जिज्ञासु को कहते हैं 'तत्वमसि' । जिज्ञासु उनकी शरण में रहकर तैयार हुआ था, वह सहज भाव से कहता है 'अहम ब्रह्मास्मि' । उन्होंने जब अधिकारी शिष्य को इस तत्व ज्ञान की शिक्षा दी और शिष्य ने स्वयं साधना करके अनुभव कर लिया, तब कहा 'अहम ब्रह्मास्मि' । प्रत्येक व्यक्ति को, साधकों को, 'अहम ब्रह्मास्मि' कहने का अधिकार नहीं है ।

जैसे सूर्य की रश्मियां, करोड़ों अनगिनत रश्मियां होती है । ऐसे ही यह जो आत्मा है परम पिता परमात्मा का अंश है । इसमें वही गुण हैं जो परमपिता परमात्मा में हैं । मात्रा में अंतर है जैसे सागर में बूंद और सागर इनके जल में कोई अंतर नहीं है, अंतर केवल मात्रा का है । ऐसे ही यह आत्मा, परमात्मा का हीं अंश है, वही रूप है । बूंद की अनुभूति कर लेना भी सागर की अनुभूति है । जो उस (परम) आत्मा का दर्शन करना चाहता है उन्हें यह समझ लेना चाहिए कि इस चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए दो मुख्य साधन है - प्रेमाभक्ति और ज्ञान साधना । इनके साधना के द्वारा भीतर में यात्रा करना, परमात्मा के स्वरूप आत्मा का साक्षात्कार करना अथवा दर्शन करना । यह जो शरीर, मन, बुद्धि आदि के बंधन या आवरण है जब वो टूटते हैं तो आत्मा परमात्मा में जो अंतर है वह समाप्त हो जाता है । इसलिए कहते हैं कि आत्मा के दर्शन भी, परमात्मा के दर्शन करना है ।

उस परमपिता परमेश्वर का इतना विशाल और विराट रुप है कि ख्याल करना भी कठिन है । यह भी उसकी कृपा है कि जिज्ञासु परमात्मा की महानता को जल्दी नहीं समझ पाते हैं, न ही उसकी अनुभूति जल्दी कर सकते हैं । इसलिए उसने आत्मा के रूप में प्रत्येक व्यक्ति के अंदर घर (मंदिर) बना लिया है ताकि व्यक्ति आत्मा की अनुभूति करके उस अगम-अपार

अनंत-असीम, स्वरूप की प्रत्येक झलक तो पा सके । यह भी महान कृपा है । साधना का उद्देश्य यही है कि आत्मा की अनुभूति कर के हम परमात्मा का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करें, उसके दर्शन करें । पूर्ण ज्ञान आज तक कोई कर या बता नहीं पाया क्योंकि पूर्ण तो केवल वही है । सब पहुंचे हुए भक्त - ज्ञानी - संत - सिद्धों आदि द्वारा यही बताया गया है कि आत्मा परमात्मा में विलय हो जाती है । वहाँ जाकर शब्द, वाणी और भाव सब खत्म हो जाते हैं ।

ईश्वर की जब मौज होती है तो इन चीज लीन आत्माओं में से किसी को अवतार बनाकर, पीर-औलिया या संत सदगुरू बनाकर, संसार के उद्धार के लिए भेज देते हैं । क्या यह परमात्मा की अपार कृपा नहीं है ? परमात्मा हर तरह से, जैसे माँ अपने बच्चे का पालन पोषण करती है, वह भी इसी तरह संसार का पालन पोषण करता है । वो माँ की तरह थकता नहीं, समय समय पर ऐसे महापुरुषों को भेजते रहता हैं कि 'जाओ, संसार का उद्धार करो । अब भी लोग सो रहे हैं , उन्हें जगाओ, चेताओ !'

कुछ दार्शनिक आत्मा-परमात्मा के योग को ही अंतिम अध्यात्मिक उन्नति की मान्यता दे देते हैं कि आगे कुछ नहीं है । परंतु इसको मुस्लिम सूफियों ने विस्तार से ऐसा बताया है कि जहाँ हम कहते हैं 'अहं ब्रह्मास्मि' वो कहते हैं 'हमाओस्त' । इन दोनों का एक सा अर्थ है । किन्तु 'हमअजओस्त' का भावार्थ है - ' आत्मा परमात्मा में विलय हो गयी है, परन्तु, मैं चाहूंगा कि मेरा संबंध बना रहे । खत्म ना हो । मैं उसी से हूँ ।' हमारे भी अन्य दार्शनिकों ने इसे "विशिष्टाद्वैत" की संज्ञा दी है । हजरत ईसा भी यही कहते हैं - " I and my Father are one. I am His son" arthat मैं और वो एक है, मैं उसका पुत्र हूँ ।

राधिका जी और भगवान कृष्ण का जो प्रेम है वो प्रेमाभक्ति भी यही है । भगवान कृष्ण की आत्मा ही तो राधा है । आप मंदिरों में मूर्तियां देखिये - भगवान की और राधा जी की, जो उनके बाम पक्ष में हैं । भगवान के साथ उनकी सहधर्मिणी रुकमणी जी नहीं है । अन्य धर्मों के या अनजान लोग समझते हैं कि भगवान कृष्ण और राधा जी पति और पत्नी हैं । प्रेमी लोग या जो ज्ञानी हैं वो राधा कृष्ण के अनन्य भक्त-भगवान को एकात्म रूप को भली-भाँति समझते हैं । राधा, भगवान कृष्ण की ही आत्मा है, वे भगवान का हीं अंश है । अपने समान राधा का विग्रह (स्वरूप) बनाकर दिखाना भगवान कृष्ण की लीला है । संसार को इस तरफ लाने के लिए हीं उन्होंने अपनी यह लीला - कृष्ण और राधा के रूप में रचकर दिखाई कि गोपी भाव से

प्रेमाभक्ति कैसे करनी चाहिए । नवधा भक्ति के नौ प्रकार में अंतिम भाव है कान्ता- भाव यानि यही प्रेमा भक्ति ।

आप देखते हैं कि गोपियों की रासलीला कैसी प्रेम विभोर (आध्यात्मिक) होने की स्थिति है । ऐसा नहीं है कि जितनी भी गोपिया हैं वे केवल स्त्रियां ही होती थी, 'गोपी' शब्द तो भक्ति रस में डूबे सभी आनंद मग्न गाते नाचते भक्तों का प्रतीक है चाहे उनमें स्त्रियां हो या पुरुष हो । भक्ति मार्गी पुरुषों को भी गोपियों के गुणों को धारण करना पड़ेगा । योग्य स्त्री बनने पर ही उसका सच्चे पति परमेश्वर के साथ मिलन होगा । रासलीला आत्मा से परमात्मा का योग ही तो है ।

पूज्य गुरुदेव बताते रहे कि आत्मा परमात्मा एक ही गुण या तत्व है । यदि आत्मा हमें दिखती है तो दृष्टा और दृष्टव्य दोनों पृथक है । भक्ति मार्ग की यही धारणा है, परंतु ज्ञानी इसको नहीं मानते हैं । प्रेमी कहते हैं कि आत्मा का गुण या वृत्ति है कि वो परमात्मा में पुनः विलय हो जाना चाहती है -जैसे कि पानी की एक बूंद सागर में विलीन हो जाती है क्योंकि आत्मा परमात्मा के गुण एक समान हैं, अनेक रूप-स्वरूपों में भी एक ही है । केवल संसार को समझाने के लिए प्रभु ने ये रास-लीला रची ।

महापुरुषों ने अपने अनुभव के आधार पर लिखा है- जैसे कि माँ को अपने नन्हे-नन्हे शिशुओं को गोद में बैठाने से, उसके उनके पालन पोषण से बड़ी प्रसन्नता मिलती है तथा पिता का जो कर्तव्य है उसको निभाने में उसको बहुत आनंद मिलता है वैसे ही परमात्मा भी मां या पिता का ही रूप है - "त्वमेव माताश्चपिता त्वमेव" । उसमें माता के से गुण हैं, वह भी हमें शिशुओं की तरह अपनी गोद में खिलाना चाहता है । हमें प्रेम विभोर करना चाहता है । वह भी चाहता है कि हम इस कीचड़ से निकलकर उसके पास जाए ।

मैंने पीछे भी निवेदन किया था कि परमात्मा का यह विरद है कि वो समय समय पर महापुरुषों को पृथ्वी पर इस संसार में भेजता है ताकि वो आकर हमारी सहायता करें और इस माया रूपी कीचड़ में से निकालकर पुनः सच्चे माता-पिता की गोद में पहुंचा दें । ऐसी महान आत्माओं के रूप में अवतरित विभूतियों को ही 'गुरु' कहते हैं और उनका कर्तव्य है 'अंधेरे को दूर करना' । आत्मा के ऊपर जो आवरण पड़े हुए हैं उनसे एक एक करके जिज्ञासु को मुक्त कराना । उसकी आत्मा का परमात्मा से योग कराना - यह गुरु का काम है ।

ऐसे सिद्ध पुरुष या समर्थ व्यक्ति ही तो संत-सदगुरु कहे जाते है । गुरु का कर्तव्य है कि वह संसार की सेवा करे - सेवा का अर्थ है कि अज्ञान को दूर करें, संसार के लोगों के अज्ञान रूपी अंधेरे को दूर करे । जैसे माता-पिता कन्या का विवाह योग्य पति के साथ करते हैं उसी तरह भी बिछुड़ी हुई मानव शरीर में भटकी हुई, आत्माओं को ये गुरु जन उसके अपने सच्चे पति परमेश्वर के पास पहुंचा कर, इसका मिलन अथवा योग करा सकते हैं - कराते रहते हैं ।

ऐसे गुरु को पाकर भी प्रत्येक साधक को, ईश्वर को पाने के इच्छुक जिज्ञासु को, अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक होना चाहिए । मैं बार बार आग्रह करता रहता हूं कि सबसे पहले तो निश्चय कर लें कि कम से कम बोलो । अधिक बोलने से, अधिक विचार उठाने से, एक तो अशांति रहती है - भीतर भी, बाहर भी, दूसरे हम आत्मा के प्रकाश से वंचित हो जाते हैं । हो सकता है हमारा मन किसी वक्त पांच या दस सेकंड के लिए स्थिर हो जाए । यदि कुछ सेकेंड के लिए भी स्थिर यानी सच्चे रूप से मौन हो जाए तो मैं कहूंगा आप बड़े भाग्यशाली हैं । यदि गुरुक्रपा और निज कर्म साधना होती रही तो शायद आपको आत्मा की अनुभूति हो जाए । वो अमूल्य कस्तूरी अर्थात आत्मा हमारे भीतर में ही है । वो ज्योति जो सबको प्रकाश देती हैं वो हम में है उसके निवास के मंदिर स्वरूप हम खुद ही हैं । गुरु नानक देवजी चेता रहे हैं -

“मन तू तो जोत स्वरूप है, अपना मूल पिछाण’

गुरुदेव का आशय है कि हमारे अंतर में जो सूर्यों के सूर्य की ज्योति है वही ज्योति प्रकाशित हो रही है, अंतर में साधना कर और अपने आप को पहचान कि तू क्या है ? अपनी इस वास्विकता को पहचान ।

जिस ध्येय की प्राप्ति के लिए हम लोग सत्संग में जाते हैं उसके विषय में स्व-निरीक्षण द्वारा यह सीखना है कि कुछ प्रगति हुई या नहीं । नहीं हुई तो क्यों नहीं । आपस में भी अन्य बातों को एक तरफ रखकर अपने जीवन के लक्ष्य के प्रति बढ़ने-बढ़ाने वाली बात करें तो अच्छा है । होता क्या है कि सुबह उठे, रात को सो गए, सारा दिन संसार की बातें करते रहे, हम परमार्थ की बात तो करते नहीं, दुनिया भर की अस्सी नब्बे प्रतिशत अनावश्यक बातें करते रहते हैं । गांधी जी सुबह के वक्त अपने आश्रम में भजन कराया करते थे, ‘उठ जाग मुसाफिर भोर भयी, अब रैन कहाँ जो सोवत है’ इसका मतलब यही है कि अपने कर्तव्य के प्रति जागो, उठो, सारा दिन जो कार्य करना है वह साधना रूप हो । केवल १० - २० मिनट आँखे बंद करके बैठना तो काफी नहीं है । पूज्य गुरु महाराज के शब्दों में ‘सारे दिन का दिनचर्या ही

साधना के रूप में होनी चाहिए' । ईश्वर की प्राप्ति का लक्ष्य सामने रखते हुए उनकी प्राप्ति की दिशा में ही प्रत्येक कार्य और प्रयास होना चाहिए । खाना खा रहे हैं तो उसकी याद में खाना खाते रहे कि उसकी कृपा से, उसी का प्रसाद खा रहे हैं । हर काम के पीछे यही भावना रहे कि जैसे बच्चे माँ की गोद में बैठ कर माँ की प्रसन्नता का अनुभव करते हैं हमारा काम भी प्रभु की पसंद की, खुशी का है और हम उसे करके आनंदित रहें इत्यादि ।

भगवान श्रीकृष्ण के साथ जैसे राधा जी रहती थी - वैसे ही हमको भी रहना सीखना है । प्रतिक्षण अपने कृष्ण (भगवान) के साथ रहने का अभ्यास और आभास करें । उसकी तो महान कृपा है कि वो हर दम हमारे पास रहता है और हम हैं कि हरदम उससे विमुख रहते हैं । वो हमारे पीछे-पीछे और हम उससे दूर भागते जाते हैं । चाहिए तो यह कि हम उसके पीछे-पीछे भागे । परन्तु हम ऐसे भूले-भटके हुए क्यों हैं कि विपरीत दिशा में जा रहे हैं ? और कब तक भटकते रहेंगे ?

हम बहुत बहुमूल्य समय गंवा चुके हैं परन्तु फिर भी 'देर आयद, दुरुस्त आयद' (देरी से आए पर आए तो भी सही है) के अनुसार 'बीती ताही बिसार के, आगे की सुध लेओ' । परमात्मा आप सब को शक्ति दे कि ईश्वर के वरदान स्वरूप मिले हुए मानव शरीर के रहते हुए अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सके । इस देह रूपी मंदिर में आत्मा रूपी परमात्मा के दर्शन कर पायें ।

आचरण की नींव पर परमार्थ का मंदिर

भागवत की यह प्रसिद्ध कथा बहुत शिक्षाप्रद है : एक बार भगवान विष्णु ने नारद जी से अपने प्रिय भक्त की बड़ी प्रशंसा की । फिर उनसे कहा कि 'मेरे इस भक्त के पास जाइए और उसकी कुशलता का समाचार ले आइये । नारद जी स्वयं को सबसे प्रिय भक्त मानते थे । कुछ बुरा मानते हुए भी उस किसान भक्त के घरगये हैं । वहां नारद जी देखते हैं कि जब वह व्यक्ति उठता है तो एक बार 'नारायण' कहता है और सोता है तो 'नारायण' कहता है । शेष दिन भर कार्य में व्यस्त रहता है । जबकि नारद जी तो प्रतिक्षण नारायण-नारायण के रटते रहते थे, और इसके सिवा कोई काम नहीं करते थे । उन्होंने उस व्यक्ति से कहा कि 'तुम भगवान के कैसे भक्त हो जो भगवान का ठीक से भजन भी नहीं करते, कभी पूजा नहीं करते ?' वह चुप ही रहा और मुस्कुरा दिया ।

नारद जी भगवान के पास आए और लड़ने लगे कि आप उसे इतना अच्छा क्यों मानते हैं ? भगवान ने कहा 'ठीक है, थोड़ी देर में बताऊंगा । एक काम करें यह कटोरा है, इसमें दूध है, उसमें पुष्प रखा है । आप मंदिर की परिक्रमा करके आइए पर यह ध्यान रखें कि यह पुष्प या दूध गिरने न पाए । तब हम बात करेंगे । आज्ञा का पालन तो करना ही था । दस बीस कदम चले हैं । ख्याल दूध की तरफ था, इधर-उधर नहीं देखा कि भगवान नाराज हो जाएंगे । उस ध्यान से ईश्वर का ध्यान तो चला गया, नारायण-नारायण जो कहते रहते थे, वहां से भी ध्यान हट गया, केवल दूध में ही ध्यान लगा रहा, ऐसी का एकाग्रता आ गई । कुछ ही कदम से ज्यादा नहीं चल पाए । डरते रहे कि दूध गिर गया तो भगवान नाराज हो जायेंगे । वापिस लौट आये बोले कि यह काम मुझसे नहीं हो सकता और कोई काम बता दीजिये । भगवान बोले - कहिये, अब आप समझे ? वह व्यक्ति सारे ही दिन ऐसे ही काम करता रहता है । उसे कुछ भी होश नहीं रहता, पर भीतर में मेरी याद में है और काम भी करता रहता है । उसका मन दाएं बाएं नहीं जाता । इसलिए बहुत प्रिय है ।

जिन व्यक्तियों का मन दाएं-बाए जाता है उनको कहीं भी शांति नहीं मिल पाती । प्रत्येक क्षण मन पर निगाह रखनी चाहिए, यह ऐसी वैसी बातें निरर्थक करता रहता है । इससे आप को हीं नुकसान होता है । यदि आपके भीतर में बुरे विचार हैं तो आपके बुरे विचार से वायुमंडल भी दूषित होता है । कारखानों से वायुमंडल इतना दूषित नहीं होता जितना आपके बुरे विचार से वायुमंडल दूषित होता है । आप कहते हैं कि ऐसा कैसे हो सकता है ? टीवी देखते हैं

टेलीफोन करते हैं, आप रेडियो सुनते हैं । रेडियो स्टेशन से जो तरंग आती है वह आपका रेडियो पकड़ता और आप सुन लेते हैं । ऐसे ही टीवी टेलीफोन की तरंगे आ जाती है । इसी प्रकार आपके शरीर में प्रतिक्षण तरंग निकलती रहती हैं और वे तरंगे सारे वायुमंडल को शुद्ध या अशुद्ध करती रहती है । इसलिए कहते हैं कि संत जहां जाता है, वह स्थान तीर्थ स्थान बन जाता है । उसके शरीर की तरंगो से ऐसा होता है । अच्छे-अच्छे विचारों के, भावों की तरंगे वहां फैल जाती हैं । वह स्थान शुद्ध हो जाता है और तीर्थ बन जाता है । जहां गंदे आदमी बैठते हैं वहां जाएं तो आपका अनुभव होता है कि आपका मन वहां नहीं लगता । जहाँ आपका मन लगे आप समझ लीजिये कि या तो आपका रोजाना वहां पूजा करने का असर है या कोई संत महापुरुष वहां आया है और अपनी उपस्थिति का चिन्ह छोड़ गया है ।

अब भी आप देख सकते हैं कि मंदिर में जाइए, गिरजाघर गुरुद्वारे में जाइए आपको वहां मन लगेगा । हजार-हजार साल के पुराने मजार है, समाधियां हैं, तपोभूमि है, उनके दर्शनों के लिए जाइए । अब भी वहां बैठते ही ऐसा मालूम होता है कि हमें किसी ने नशा पिला दिया है । वह संत तो शरीर रूप में वहाँ नहीं है, परंतु स्थान को अपनी पावन तरंगों से इतना रंग गया है कि जो भी श्रद्धा से वहां जाता है, बैठता है, उसको प्रसादी मिल ही जाती है ।

कई स्थानों पर हम गये है, गुरु महाराज के साथ भी गए हैं । आगरा में एक संत की मस्जिद है वहां बैठकर विशेष आकर्षण या विशेष कृपा मिली, गुरु महाराज के साथ थे । भीतर में ऐसा लगा कि किसी ने हमें इतनी पिला दी कि हमारी आंखें नहीं खुली । और भी स्थानों पर गए हैं, जहां आत्मिक कृपा की प्रसादी मिलती रही है । इसलिए लोग तीर्थों पर जाते हैं । परंतु लोग इसका महत्व समझते नहीं है । यही देखते हैं कि बड़ा पवित्र स्थान है, खूब दुकानें लग रही हैं, चाट-पकौड़ियाँ खाई जा रही हैं, कोई चाय पीने में ही मस्त हैं, कोई कुछ और सैर सपाटा कर रहा है । तीर्थों पर जाने वाले अधिकांश तीर्थयात्रियों या कहें कि पर्यटकों के ऐसे व्यवहार से उस स्थान की सारी पवित्रता कम होती जाती है ।

एक भाई बड़े अच्छे अभ्यासी थे उनके गुरु महाराज (महात्मा रामचंद्र जी महाराज) की विशेष कृपा उन पर थी । उन्होंने अपने गुरुदेव को पत्र लिखा था कि अभ्यास करते करते इतना समय हो गया परन्तु मन अभी तक स्थिर नहीं होता, शांति नहीं मिलती । हम सबके भीतर में यही भाव रहता है । बड़ी अच्छी अच्छी स्थिति के भाई भी यही कहते हैं । उनको हमारे दादा गुरु पूज्य लाला जी महाराज लिख रहे हैं कि - “आप जो साधन कर रहे हैं वह आपके लिए

काफी हो गया है, यानी सूरत का जो अभ्यास करते हैं, वह काफी हो गया । आपकी सूरत की चढ़ाई तो सहस्रदलकंवल तक पहुंच गई । काफी साधना व अभ्यास हो गया है । अब समय आ गया है कि इस अभ्यास को आनंद से सराबोर करने के लिए कुछ और बातों की जरूरत है, उनकी तरह का ध्यान दे ।"

वास्तविक स्थिति यह है कि न तो हम मनन करते हैं, न किसी बात का ध्यान रखते हैं । ईश्वर और गुरु के गुणों को सराहते तो है पर यह प्रयास नहीं करते कि गुरु की बातों को, उसके गुणों को अपनायें । हम तो अपने ही अवगुणों से घिरे रहते हैं - जैसे कि हम झूठ बोलते जरा-जरा सी बात पर है और सालों से बोलते रहे हैं । सत्संग में इतने दीर्घ काल से आने पर भी यह आदत हमारी जाती नहीं है । निंदा या घृणा की आदत नहीं जाती, लड़ने की आदत नहीं जाती, खाने पीने की आदत नहीं जाती । तो वह क्यों नहीं गयी ? रसना का रस, आंखों के देखने का रस वही चल रहा है । बातें करने में वही रस आ रहा है, जाता क्यों नहीं ? न तो कभी गंभीरता से सोचा या मनन किया । न हीं ईश्वर के गुणों की पूजा ही की - दर्शन तो दूर रहे । पूजा का अर्थ यह भी है कि हम पर ईश्वरीय गुणों को आत्मसात करने का गंभीरता से यत्न करें ।

मनुष्य की इंद्रियां और मन अपना ही खेल खेल रहे हैं । मन संकल्प विकल्पों में फंसा हुआ है । वह शरीर और इंद्रियों को अपने बस में किये हुए है । वह बुद्धि के, विवेक वैराग्य के गुणों को अपना हीं नहीं इसलिए शक्ति को व्यर्थ खोता जा रहा है । चंचलता में फंस गया है, आत्मा से, परमात्मा से, गुरु से प्रकाश नहीं लेता । अर्जुन को इतने प्रश्न क्यों करने पड़े ? प्रभु उसके ऊपर दयालु थे । इसी प्रकार हमारा मन प्रश्न और शंका तो उठाता है पर गुरु और परमात्मा की तरफ उन्मुख नहीं होता, अपने को नियोजित या संयमित नहीं करता । मनमानी करता है, दिखावा करता है, कि मैं बड़ी पूजा करता हूँ ।

साधक को गंभीरता से आत्मिक स्थिति की तरफ उन्मुख होना पड़ेगा । परमात्मा के गुरू के, गुणों को अपनाना होगा और मन के अंधकार पर उनका प्रकाश डालना पड़ेगा । उसे अपने अधीन करना पड़ेगा, तब ईश्वर प्रेम का संगीत सुनाई देगा । साधक जब आगे बढ़ने का अधिकारी होगा तभी शांति और आनंद प्राप्त होंगे, इससे पहले तो यह सत्संग पूजा ऐसे है जैसे बच्चे के खिलौने के साथ खेल रहे हो । हमारे जीवन में अभी आत्म-जागृति नहीं हुई है कि

हमारे जीवन का लक्ष्य क्या है ? योग क्या है, आनन्द क्या है, परमात्मा क्या है - यह तो दूर की बातें हैं ।

पूज्य लाला जी इसी आत्मिक संगीत के आनंद को सुनने के बारे में फरमाया करते थे - "हारमोनियम को ठीक तरह से बजाया जाए तो संगीत निकलता है, सरस्वती जी की सुरसुधा मिलती है । अगर अनाड़ीपन से या बच्चों की तरह हाथ पैर मारेतो लोग कहते हैं, बंद करो । ठीक से बजाने से हीं अच्छा लगेगा ।" इसी तरह भीतर में भी शांति और आनंद का संगीत होना चाहिए

वास्तविक शांति आसानी से नहीं मिलती है । खाना खाया, स्वाद आया । हम इसे ही शांति मान लेते हैं, यह शांति नहीं है । हमारी कोई आशा बच्चों ने, मित्रों ने, पूरी कर दी इसे हम शांति मान लेते हैं । यह अस्थायी सुख है जो थोड़े समय बाद दुःख में परिवर्तित हो सकता है । असली शांति तो आत्मा में है । इसके लिए सर्वप्रथम आचरण की नींव को मजबूत करना होगा ।

हमें अखबार पढ़ने से फुरसत नहीं मिलती, स्वभाव बन गया है । अखबार में इतने मस्त हो जाते हैं कि हमें अपना कोई ध्यान नहीं रहता । न पूजा का, न अन्य आवश्यक बातों का, इसलिए पूजा में बैठने से पहले अपनी इच्छा शक्ति को नियंत्रण में करें । उपाय भी करने चाहिए । अखबार वाले से कह दीजिये कि अखबार एक घंटे बाद दे जाये । परमार्थ में लाभ प्राप्त करने के लिए जितनी आपकी अपनी शक्ति लग सकती है उसका तो उपयोग करें । साथ ही ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिए कि आपको शक्ति दे ।

पूज्य लाला जी महाराज ने कहा है कि तथा पूज्य गुरू महाराज ने लिखा भी है कि जो कमजोरी हमने अपने गुरुदेव से कह दी थी वो तो दूर हो गई, जिनको हमने छिपाकर रखा कुछ संकोच के कारण वह कमजोरियां हमसे अब तक नहीं छूटी यदि कोई कमजोरी आपसे नहीं छूटती, तो अवश्य कह दीजिये । गुरु आपकी सेवा करेंगे, आपके लिए दुआ करेंगे । उससे आपको बल मिलेगा इससे हमें गुरुजन से अपने स्थिति का सच्चा हाल अवश्य कहना चाहिए ।

प्रार्थना करने, मनन करने, आचार व्यवहार शुद्ध करने और सदगुणों को अपनाने तथा सदव्यवहार करने के बिना रास्ता नहीं मिलेगा, साधना नहीं हो सकती । अपने मन पर अंकुश लगाना चाहिए । मन शरीर और इन्द्रियों पर अंकुश रखें । बुद्धि मन को वश में रखेंऔर बुद्धि

आत्मा और गुरु के सत्संग में प्राप्त हुई ज्ञान - प्रसादी से, उनकी आत्मिक ज्योति से, प्रकाशित होवे । इन बातों को सबको याद रखना है । इन बातों को याद रखेंगे तो हमारी प्रगति थोड़े दिनों में होने लगेगी । आप स्वयं अनुभव करेंगे । आपके मित्र एवं परिवारी जन भी खुश होकर अनुभव करेंगे कि आप में कोई विशेष परिवर्तन आ गया है । आपके स्वभाव में शांति होगी, प्रेम होगा, करुणा होगी, यहां तक कि जहां बैठेंगे, आपके पास जो भी बैठेगा, उसे भी शांति का अनुभव होगा ।

आप एक सुगंधित पुष्प की तरह बन जाएंगे । आपसे सुगंध का प्रवाह होने लगेगा । आप इसी सुगंध में, अपनों पर प्रभाव डाल कर आएंगे तो उनको भी प्रेरणा दे सकेंगे । जिससे वह भी अच्छे रास्ते पर चलेंगे । या प्रत्येक सत्संगी साधक का काम है । एक ही व्यक्ति की सेवा नहीं करनी । आप सब को मिलकर सुगंधित पुष्प की तरह बनना है और अपनी सुगंध से चारों ओर परमात्मा के नाम को, उसके प्रकाश को, सच्चे आनंद को, फैलाना है । अपने गुरु के नाम को उज्जवल करना है ।

अतः प्रत्येक सत्संगी का व्यवहार सामान्य व्यक्ति से उंचा होना चाहिए । इसी आचरण की नींव पर हमारा अध्यात्म का परमार्थ का मंदिर बन पाएगा ।

गुरुदेव आप का कल्याण करें ।

कर्म फल से मुक्ति

कब और कैसे प्राप्त हो ?

संतों ने बताया कि जैसी करनी वैसी भरनी । कवि ने लिखा है -

सब भोगते हैं फल करमों का, इनसे बचने का काम नहीं
श्री राम बचे न बची सीता, बच सके कृष्ण-बलराम नहीं

हम जैसे कर्म करते हैं, वैसा उसका फल मिलता है । मनुष्य सोचता है कि कब ये जन्म-जन्मान्तर से चला आ रहा, कर्म और फल का चक्र खत्म होगा । संतो और गुरुजनों ने उसके लिए कुछ साधन बताये हैं जिस पर चलकर मनुष्य कर्म फल या कर्म चक्र के प्रभाव से मुक्त हो सकता है । महापुरुषों का कहना है कि सारी परेशानियों का कारण मनुष्य खुद ही हैं क्योंकि उसमें जो कर्ता भाव हैं, जो अहं है उसी के कारण कर्मफल भोगता है । अज्ञान के कारण जो कर्तापन और भोक्तापन का भाव है वही इस व्याधि का कारण है ।

रावण महापंडित था । बड़ा विद्वान था परन्तु उसमें एक ही त्रुटि थी और वह थी अहंकार की । अहंकार के कारण, उसका ज्ञान, अज्ञान में बदल गया था । । यह नहीं कि वह कोरा था । बहुत उच्चकोटि का विद्वान, बलशाली और तपस्वी भी था । उसने जो पुस्तकें लिखी थी वो अन्य संतों के पुस्तकों से कम नहीं है । उत्तर प्रदेश में, गोरखपुर में किसी के पास एक 'रावण-संहिता' है । जैसे भृगु संहिता है उसी प्रकार रावण संहिता भी है जो कि उच्च कोटि का ग्रंथ है । उसके और भी कई ग्रंथ होंगे जो घृणा के कारण लोकप्रिय नहीं हुए और ना ही कहीं पढ़े पढ़ाए जाते हैं । अहंकार के कारण उसका उच्च कोटि का ज्ञान दूषित हो गया क्योंकि उसके व्यक्तित्व में अहंकार और अज्ञान की वृत्ति आ गई थी ।

क्या यही रावण वृत्ति हम सब में नहीं छिपी है ? हम जो कुछ करते हैं उसमें सोचते हैं कि "मैं ही कर्ता हूँ" । यदि किसी काम का फल अच्छा हो जाता है तो बड़े ही प्रफुल्लित होते हैं और बखान करते फिरते हैं कि देखिये साहब यह काम मैंने किया है । मेरी बुद्धि कितनी तीव्र है । मैं कितना चतुर हूँ । मेरे ही किये यह सब हुआ है । और यदि किसी काम का फल बुरा हो जाए तो मनुष्य अपने चित्त को मलीन कर लेता है । तो हमारे मन में जब तक कर्ता भाव

और भोक्ता भाव रहेगा तब तक कर्म का चक्र और जन्म मरण का क्रम चलता ही रहेगा, और हम भव सागर से कभी भी पार नहीं उतर पाएंगे, मुक्त या स्वतंत्र नहीं होंगे ।

तब प्रश्न उठता है कि आखिर मनुष्य करें क्या ? पशुओं में मनुष्यों की तरह हीं इन्द्रियाँ होती है परन्तु उसमें से अलग-अलग पशुओं की एक इन्द्रिय ही विशेष प्रबल होती है । जैसे मृग में सिर्फ सुगंधी की (घ्राण शक्ति) बड़ी तीव्र होती है । उसके भीतर में कस्तूरी होती है, लेकिन बाहर ढूंढता हुआ दौडता फिरता है और उसकी तलाश में शिकारी उसको पकड़ लेता है । हाथी है उसमें काम की इन्द्रिय प्रबल होती हैं उसी के वशीभूत होकर फंदे में फंस जाता है । सांप में श्रवनेंद्री बड़ी तीव्र होती है जिससे वह सपेरे के बीन के राग में इतना मस्त हो जाता है कि पकड़ा जाता है ।

पशुओं को तो एक ही इंद्रीय नष्ट करवा देती हैं । पर यहाँ तो बड़ी मुश्किल यह बात है कि मनुष्य के पाँचों इंद्रियां और छठा मन - सब ही बड़े प्रबल होते हैं । सारे मिलकर उसे इस प्रकार जकड़ लेते हैं कि वह युगांतर से कोशिश करता रहा है अभ्यास करता है कि किसी तरह इन्द्रियों के वशीभूत न हो, उनसे मुक्त हो जाए । परन्तु यह सहज सम्भव हो नहीं पाता ।

आप सब जरा देर भीतर में स्व निरीक्षण करिये और विचार करिये कि आप अपनी इंद्रियों से कितना मुक्त हैं । आपकी इन्दियाँ और मन कितने वश में है । किसी को अधिक बोलने में बडा आनंद आता है तो किसी को खाने में विशेष रस आता है, किसी को कानों से निंदा सुनने में बडा आनंद आता है । इतने में सबसे खतरनाक इन्द्रियां जो मनुष्य की बड़ी अवनति कराती है वो है उसकी 'आंख' । जितना वह आकर्षक रूप रंग देखता है उसकी प्रतिक्रिया होते होते चित् पर अक्स बन जाता है । जिसके कारण दिन रात उन्हीं के चिंतन गुनावन में लगा रहता है । यहां तक कि यह गुनावन इतनी बढ़ जाती है कि जीवन में उसी की क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है । इसलिए संत तुलसीदास जी कहते हैं और प्रार्थना करते हैं कि 'हे प्रभु ! न तो मेरे पास बाहुबल है, न बुद्धि बल है और न राजनीति का बल है । मेरे तो आप ही निर्बल के बलराम हैं । मैं तो दीन-हीन दास हूँ' । गुरु नानक देव कहते हैं "कहूँ नानक मैं नीच करम्मा" मेरे तो कर्म ही बड़े नीच हैं । मेरे पास एक ही साधन है वह है प्रार्थना । गीता के अंत में भगवान, अर्जुन से कहते हैं, कर्मयोग छोड़ो, ज्ञान छोड़ो, भक्ति योग भी छोड़ दो, सब तरह की साधनाएं छोड़ दो । कर्म-धर्म सब छोड़ दो । केवल अपने आप को मेरी समर्पित कर दो । समर्पित करना ही बड़ा मुश्किल है । जो दीन होते हैं, संत होते हैं उनका हृदय बड़ा

कोमल होता है । और वे प्रार्थना करते हैं कि - हे प्रभु ! अपने चरणों में हमें ले लो । हम तो निर्बल है, यही उनकी दीनता है । इंसान के पास सब कुछ होते हुए भी यदि वह निर्बल रहता है यानि अपने किसी भी प्रकार के बल पर भरोसा नहीं करता, सिवाय एक ईश्वर के, वही वास्तव में सबसे बलवान है । जो इस तरह से निर्बल होकर भगवान के चरणों में गिरते हैं और प्रार्थना करते हैं भगवान उनकी प्रार्थना सुनते हैं । यह प्रभु का विरद हैं ।

यह सरल साधन है । यदि हम आप अपने चित्त को निर्मल या मन को निर्मल करना चाहते हैं तो मानसिक तौर पर भगवान के चरणों में बैठकर रोए, उनको पुकारे कि - हे भगवान ! हमें अपना दामन पकड़ा दीजिये । हम इस भवसागर में डूब रहे हैं । गजराज ने क्या किया था । क्या उसके पास मनुष्य जैसी बुद्धि थी ? एक पशु के पास भगवान क्यों पहुंचते हैं ? उसमें सरलता थी, दीनता थी, प्रभु का आसरा था । दिन हृदय से प्रार्थना निकली, भगवान दौड़े आए और उसकी जान बचाई है । ऐसा एक उदाहरण नहीं, हजारों हैं ।

जब तक द्रौपदी ने अपने बल पर विश्वास किया, भगवान तमाशा देखते रहे । रुक्मिणी जी कहती रही कि, भगवान ! एक अबला पुकार रही है आपको, आप कब जायेंगे उसकी सहायता करने ? तो भगवान कहते है कि "मैं क्या करूँ" ? अभी उसे अपने बल पर ज्यादा विश्वास है । उसने अपनी साड़ी दांतों में दबा रखी है । जब द्रौपदी ने देख लिया कि अपनी लाज बचाने के सब प्रयत्न विफल हो रहे हैं, उसका कोई बल काम नहीं कर रहा है, तब उन पर छोड़ दिया । भगवान से मन-ही-मन प्रार्थना की कि 'प्रभु, आपने मुझे आश्वासन दिया था कि जब भी मैं किसी मुश्किल में होंऊँगी, आपको याद करुँगी तो आप दौड़े चले आएंगे' । निर्बल, असहाय हो गई कि लो उतार लो, अब तो मेरी लाज भगवान ही बचाएंगे । उसने दांतों से साड़ी को छोड़ दिया है । जब इस तरह वह पूर्णतया, भगवान के आश्रित हो गई, तत्काल भगवान ने आकर उसकी रक्षा की । यही तो उनका विरद है । परन्तु सब कोई तो द्रौपदी की तरह समर्पित और दीन भक्त हो नहीं सकते ।

अतः प्रश्न उठता है की सामान्य व्यक्ति को क्या करना चाहिए, उसको कौन सी जीवन की कला अपनानी चाहिए । यह तो हमने मान लिया कि हमारी मानसिक कमजोरियां और बीमारियों का कारण हमारा मन यानि उसका कर्तापन है । उससे मुक्त कैसे है ? सब महापुरुषों की एक ही शिक्षा है कि इस अहंकार को अज्ञान रूपी अंधकार से मुक्त हो । भगवान राम को जब बैराग हुआ था तब उनकी उम्र छोटी थी । सब प्रकार से सांसारिक वैभव और राज सुख थे,

युवराज थे । ऐसे समय महर्षि वशिष्ठ की सेवा में गए हैं । इस वैराग को समझने के लिए, जैसे गीता में लिखा है, वैसे ही वशिष्ठ योग लिखा गया था ।

वशिष्ठ जी ने जो उपदेश भगवान राम को दिया था, उसमें चार बातें मुख्य बतलाई थी । (१) सत्य (२) संतोष (३) विचार और (४) शांति । जितने भी उपदेश दिए गए हैं चाहे गीता में, चाहे महात्मा बुद्ध की या अन्य संतों की वाणी में हों उन्हें मात्र पढ़ना ही नहीं चाहिए उन पर मनन करके उसको अपने जीवन में उतारने की कोशिश करनी चाहिए । इनमें से सबसे पहले आता है - सत ।

(१) सत - ईश्वर 'सत' स्वरूप हैं । मनुष्य के भीतर में जो आत्मा बैठी है । वह भी 'सत' स्वरूप है । उसको पहचानो और अपने आपको जानो । यह मत समझो कि तुम शरीर हो । आत्मा और ऊपर अन्य चार आवरण है, वह तुम नहीं हो । तुम तो सत-स्वरुप हो । तुम्हारा जीवन सत्यता का होना चाहिए । आत्मा के जो गुण है, परमात्मा के गुण है, वे हमारे व्यवहार में आने चाहिए । साधना तो यही है कि हम आत्मा हैं, इस आत्मा को पहचान कर संसार में रहें और अपना नित्य का व्यवहार करें । आत्मस्थित हो कर जो कार्य हमारे द्वारा होगा उसका प्रभाव हमारे चित् पर नहीं पड़ेगी । जब उसकी छाया हमारे चित् पर नहीं पड़ेगी तो हमारा चित्त निर्मल रहेगा और कर्म फल नहीं बनेगा । फिर जन्म-मरण कैसा ?

जो पहला उपदेश महर्षि वशिष्ठ ने राम को दिया, वह था 'सत' का यानि हमारा व्यवहार सत्यता का हो । दो और दो चार हीं कहें, उसमे मन की चाणक्य-राजनिति न हो, स्पष्टता हो । राजनीती में झूठ बोलना पड़ता है परन्तु परमार्थ के रास्ते में महाराज हरिश्चंद्र सब कुछ बलिदान कर देते हैं पर झूठ नहीं बोलते । सामान्य व्यक्ति में और जिनका जीवन आदर्शमय है उनमें फर्क है । जिन्हें चाणक्य नीति पर चलना हैं वो बेशक झूठ बोले परन्तु जिन्हें राजा हरिश्चन्द्र के मार्ग पर चलना है, सत पर चलना है उनको झूठ से क्या वास्ता ? उन्हें निरंतर सत्य हीं बोलना होगा, चाहे कितनी ही हानि हो जाए । जब तक हमारा ऐसा स्वभाव नहीं बन जाता तब तक हम अपने रास्ते पर आगे नहीं बढ़ेंगे ।

(२) संतोष - संतोष वही कर सकता है जिसके भीतर में सहनशीलता है और ज्ञान है । ज्ञान का मतलब है कि धारणा बन जाए कि जो आत्मा हमारे अंदर है वही अन्य मनुष्यों में है और वही सारे संसार के जीव जन्तु स्थावर-जंगम, सब में है । तब यदि कोई हम से दुर्व्यवहार करता है, हमें उतेजना देता है, तो वह कौन करता है वह तो प्रभु की लीला है - ऐसा हमें

समझना चाहिए । जब ये हमारा ज्ञान दृढ हो जाता है तो सहनशीलता स्वत: ही आ जाती है । सहनशीलता आते ही संतोष अप्रयास ही आने लगता है । शुरू में संतोष का मतलब यह लिया जाता है कि जो कुछ भगवान ने दिया है उस में संतुष्ट रहें परन्तु संतोष का विस्तार करना चाहिए । कैसी भी परिस्थिति आ जाये, उसमें हमारा मन विचलित न हो ।

(३) विचार और (४) शान्ति - तीसरा उपदेश जो दिया वह विचार का है - आत्मविचार । यह पहचानो कि किसको वैराग हो रहा है, कौन वैराग करा रहा है ? उत्तर होगा कि मन को वैराग हो रहा है । परन्तु तुम तो मन नहीं हो । मन से मुक्त होकर ज्ञान को अपनाओ । तुम तो आत्मा हो । ज्ञान और अज्ञान, वैराग और अनुराग दोनों से मुक्त होओ । जब यह स्थिति आ जाती है तो उसका परिणाम क्या होता है ? परम शांति, तृप्ति, संतुष्टि और आत्मा-शांति ।

एक शांति अस्थायी होती है जैसे कि बड़ा अच्छा भोजन खाया, मन में बड़ा सुख अनुभव किया परन्तु वह कितने समय तक रहेगा ? दस पांच मिनट के लिए । ऐसी क्षणिक शांति नहीं है । मन की ऐसी शांति अस्थायी है, क्षण-भंगुर है । आत्मा की शांति तो निरंतर रहती है गंगा के प्रवाह की तरह । शांति वह है जिसके साथ पूर्ण तृप्ति हो, कोई इच्छा न रहे, कोई आशा न हो । जिस परिस्थिति में रहें, शांत रहें, यह आत्मा की शांति का स्वरुप है ।

उपरोक्त चार बातें महर्षि वशिष्ठ ने भगवान राम को बताई तब श्रीराम अपने असली (आत्मा के) स्वरूप को पहचान कर अपने लीलाओं में प्रवृत्त हुए । इसी तरह से जो परमार्थ के रास्ते पर चलने वाला साधक है, उसको भी कुछ साधना ज्ञान की करनी पड़ेगी । जो भी कर्म हम करें, उसमें हमारा ममत्व न हो । गीता पढ तो लेते है, परन्तु उसका उपदेश व्यवहार में नहीं लाते । अर्जुन को सिखाते ही क्या था ? यही सिखाया था कि जो कुछ भी कर्म तू करें उसके साथ तेरा कोई बंधन न हो । यदि बंधन हुआ, अज्ञान, अहंकार हुआ तो उस कर्म का फल मिलेगा । उन कर्मों के छाया चित् पर पड़ेगी । जिसके फलस्वरूप जन्म-मरण का चक्र चलता रहेगा ।

अर्जुन चाहता है कि कर्म-बंधन से मुक्त हो जाए, स्वतंत्र हो जाए जितनी इंद्रियां है वे मन के वशीभूत हो, मन बुद्धि के अधीन हो जाए और बुद्धि आत्मा से प्रकाश ले । चित्त में निर्मलता हो, अंतर ध्वनि हो, संगीत हो । ऐसी परिस्थिति में जो भी कर्म किया जाएगा, वह इस ज्ञान के साथ किया जाएगा कि मैं तो कर्ता हूँ ही नहीं, मैं तो आत्मा हूँ । ईश्वर ही कर्ता है, ऐसा दृढ विचार जब बन जाएगा तो कर्मों के छाया चित् पर नहीं पड़ेगी । ऐसी अवस्था के

प्राप्त होने पर हम अध्यात्मिकता के आयाम में प्रवेश करने की योग्यता पाकर, कर्मफल से मुक्त हो जाएंगे..... और तब जन्म-मरण के चक्र से भी सदा सदा के लिए स्वतंत्र हो सकेंगे मोक्ष प्राप्त कर लेंगे ।

- ईश्वर सत्य स्वरूप हैं मनुष्य के भीतर में जो आत्मा बैठी है वह भी सत स्वरूप हैं

- जो आत्मा के गुण हैं परमात्मा की उन्हें वे हमारे व्यवहार में आने चाहिए

- संतोष वही कर सकते हैं इसके भीतर विषय शीलता है ज्ञान है

- कैसी परिषद या जाए उसमें हमारा मन विचलित ना जिसना हो

- जिस परिस्थिति में हो शांत रहो यह आत्मा का स्वरूप है

संसार रुपी जलाशय में

साधक कमल समान

संतों की वाणी में, गुरुजन के उपदेश में, और धर्म के ग्रन्थों में, एक उदाहरण प्राय: दिया जाता है, कमल पुष्प का । वह जल में रहता है, जहाँ कीचड़ भी है । जल में तरंगें उठती हैं, जल उस पर पड़ता है परन्तु उस पर ठहरता नहीं । इसी प्रकार संसार में रहते हुए हमें उत्तेजना, भय, कोप, शत्रुता, हानि-क्षति, शोक, रोग, वियोग आदि सब का सामना करना पड़ेगा, दुख तकलीफें आएंगी । परन्तु जीवन की कला यह है कि हम कमलपुष्प तरह रहे, सदा खिले हुए, आनन्दित रहें । चित् पर किसी प्रकार की छाया ठहरने न दें ।

जितनी भी हम साधना करते हैं, चाहे वह ब्रह्मरन्ध्र पर करें, आज्ञा चक्र पर करें, हृदय या नाभि चक्र पर करें यह सब एक टेक्नीक है मन को शांत करने की । इनसे आप मन को एकाग्र कर लेंगे, मन के भीतर शांति भी हो जायेगी, परन्तु यह जीवन का अंतिम लक्ष्य नहीं है । हम लोग साधना पर जोर देते हैं । आँखें बंद कर के आंतरिक साधना पर ज्यादा जोर देते हैं, क्योंकि साधना करनी जरूरी है । इसका अपना शुभ परिणाम होता है । परन्तु जब तक हमारा व्यवहार शुद्ध नहीं होता, ईश्वरमय नहीं होता तब तक समझ लीजिये कि यह अभ्यास तो केवल कोरा कर्मकांड या मशीनी प्रक्रिया के समान है ।

ऐसे ही शिकारी की तकनीक होती है, जब वह शिकार करता है तब उसकी एकाग्रता इतनी प्रबल होती है - ऐसे तीव्र होती है कि महीनों की कोशिश के बाद भी साधकों में इतनी नहीं होती । शिकारी की उस एकाग्रता का कोई लक्ष्य नहीं है सिवाय अपने शिकार या मछली को पकड़ने के । उस एकाग्रता का यदि कोई फल है तो यही है कि वह मछली पकड़ लेगा, इससे अधिक और कुछ नहीं । उसके अंतर में जो हिंसा की वृत्ति है वह और भी मजबूत होती जाएगी ।

हमें भी देखना है कि अभ्यास करते करते एकाग्रता होने लगी, मन ठहरने लगा परन्तु परमात्मा या गुरु या इष्टदेव के नाम लेने औ स्वरूप का ध्यान करने से हमारा चित्त भी निर्मल हुआ है या नहीं । क्या हम कबीर जी की तरह अपने अंतिम समय में भगवान से निवेदन कर सकते हैं कि 'हे प्रभु ! जैसी श्वेत चादर (मानव का शरीर या चोला) आपने हमें प्रदान की थी वह जैसी की तैसी (साफ़-सुथरी) आपके चरणों में अर्पण है । श्वेत चादर का भाव

है कि हमारा मन पूर्णरूपेण निर्मल हो जैसे कि शिशु का होता है । क्या मरते वक्त विशेष, जबकि हम सत्संग या पूजा में बैठते हैं, उस समय हमारा चित्त निर्मल होगा । मरना तो छोड़िए, क्या इस वक्त हमारा चित् निर्मल है, विचार शून्य है ? साधना का प्रथम परिणाम तो यह होना चाहिए कि हमारा चित्त पूर्णत: निर्मल हो जाए ।

मीरा जी कहती है कि 'हे प्रभु कृपा करो, मेरी चुंदरी अपने प्रेम में ऐसी रंग दो कि उसका एक भी एक भी कोना खली न रहे, उसमें कोई दाग न रहे' । हमें भी प्रतिक्षण चित्त निर्मल करने का ऐसा अभ्यास करना है कि जिससे हमारे चित् पर एक भी दाग ना रहे । कर्म तो हमें करने ही है परंतु कर्म करने की ये कला होनी चाहिए कि उसके साथ हमारा बंधन न हो । साधक को बारम्बार अपना आत्म-निरीक्षण करते रहना चाहिए । भीतर में देखना चाहिए कि कौन-कौन सी त्रुटियाँ हैं । यदि साधना करते करते कमियां और कमजोरियां कम नहीं होती, चित्त की शुद्धि नहीं होती, वह निर्मल नही होता तो समझिये की साधना में अभी कुछ कमी है ।

प्रारम्भ में जैसे कहा गया है - हमारा कर्तव्य और यही होना चाहिए की संसार में कर्म के मामले में हमें कमल के फूल की तरह रहना चाहिए । कर्म तीन प्रकार के होते हैं - प्रथम है साकार या सकाम कर्म यानी जिन कर्मों के फल की स्वयं इच्छा रहे । दूसरे निष्काम कर्म में फलाफल की कोई भावना नहीं रहती । इससे हानि का भय नहीं है । तीसरे कर्म है जो स्वत: होते रहते हैं, जो ईश्वर आपसे अनायास ही करवाता रहता है, जैसे संत लोग ईश्वर में लीन रहते हैं और उनका शरीर स्वतः सब काम करता रहता है ।

परमहंस रामकृष्ण के बारे में पुस्तकों में लिखा है कि वे मां काली के पास बैठ कर उनसे बातें करते थे, प्रश्नोत्तर होते रहते थे । अपने भीतर की जितनी भी भावनाएं होती थी माँ के चरणों में रख देते थे । उनके प्रिय शिष्य नरेंद्र (बाद में स्वामी विवेकानंद) जब शुरू शुरू में उनकी सेवा में आए तो उनके घर की आर्थिक स्थिति बड़ी खराब थी । नौकरी दिलवा दें, इस इच्छा से बाबा के पास आए थे । बाबा ने कहा मैं तो नौकरी नहीं दिलवा सकता मां (काली) से जाकर मांगों ।

नरेंद्र तीन बार काली मंदिर में जाकर माँ से प्रार्थना करते हैं । बड़ा दृढ़ संकल्प लेकर जाते हैं कि मां तो सर्वशक्तिमान है, मां से नौकरी की याचना करूंगा । परंतु माँ के सामने जाकर हर बार नौकरी की बात भूल जाते थे - कहते हैं कि "मुझे अपना प्रेम दो" । लगातार तीन बार ऐसा हुआ । अंत में उन्हें समझ में आ गई कि बाबा ही कुछ ऐसा कर देते हैं कि मेरी

मति बदल जाती हैं । ईश्वर की इच्छा यही है कि बाबा के चरणों में रहकर उनकी सेवा कर सकुं ..... तो यही सही ।

कहने का तात्पर्य यह है कि अपनी इच्छा न रखें, अपने आपको मृतक सरीखा बना दें । आजकल जितने भी साधक आते हैं उनमें लगभग सब अपनी ही इच्छा-अभिलाषाओं की बात बताते हैं, दुनिया के पदार्थ मांगते हैं । दत्तात्रेय ने चौबीस गुरु बनाएं । उन्होंने तो एक कन्या और चील से भी कुछ शिक्षा ले ली । एक गांव में कन्या धान कूट रही थी, जिनके हाथ की चुड़ियां बजती थी, उसने एक को छोड़कर सब उतार दी, शोर बंद हो गया । ऐसी ही एक दिन एक चील मांस लिए उड़ी जा रही थी, कौवे पीछे लगे थे । उसने माँस छोड़ दिया । तुरंत कौवों से छुटकारा हो गया । असली गुरु तो केवल ईश्वर होता है पर उन्होंने जिनसे भी कोई शिक्षा या सिख ली, वे चौबीस गुरु (गुरु माने) थे जिनका मार्गदर्शी सहयोग ईश्वर के दर्शन के लिए प्राप्त किया था ।

मनुष्य की हमेशा विद्यार्थी की सी सीखने की प्रवृत्ति होनी चाहिए । संसार का ज्ञान इतना असीम है कि कोई नहीं कह सकता है कि मैंने सब कुछ सीख लिया । सर आइजक न्यूटन कैसा बड़ा विद्वान और वैज्ञानिक था उसने लिखा है कि 'मैं तो अभी ज्ञान रूपी सागर के तट पर बैठा हूँ और कंकडों से खेल रहा हूँ' । यह विनम्रता है - दीनता है । हम कितने ही पढ जाए, कितनी ही आत्म प्रगति कर लें, परन्तु दीन बने रहना चाहिए । 'प्रभु' तेरे ज्ञान के भंडार के आगे हिमालय पर्वत के आगे, एक चींटी की जैसी मेरी बिसात ही क्या है ? इसी तरह कोई संत बन जाए, कितनी भी उच्चकोटि का महात्मा बन जाए, तो भी परमात्मा के आगे उसकी स्थिति क्या है ?

इसलिए संतगण तो अपने आपको दीन बनाए रखते हैं । वो भीतर में प्रकाश रूप हैं, आनंद स्वरूप है, जीवन स्वरूप हैं, परन्तु ईश्वर के चरणों में, अपने ईष्टदेव के चरणों में, सदैव अपने आपको अकिंचन, छोटा, नन्हा, तृण जैसा समझते हैं । गु ? गुरु नानक देव जी कहते हैं कि **"कहूँ नानक मैं नीच करम्मा, शरन पड़े की राखो शरना"** अर्थात मेरे कर्म नीच समान हैं, तुम्हारा विरद है कि मेरी लाज रखो ।

किसी सच्चे संत को अपने यहाँ कहते नहीं सुना होगा कि "मैं गुरु हूँ, मेरा नाम जपो । मेरी पूजा करो" । वो तो हमेशा दीन बने रहते हैं । छोटा बच्चा होता है तो कोई भी उसे गोद में उठा ले उसे वह मुस्कुराहट देता है । छोटे बालक जैसी सरलता तब आती है, जब हम राग

द्वेष से रहित हो जाए - यहाँ तक कि कथित शत्रु भी हमें अपना मित्र जैसा ही लगने लगे और उसे भी ऐसा ही लगे । कबीर साहब ने फरमाया है कि "या मरने ते पाइए, पूरन परमानन्द" । मरने से ही परमानंद की प्राप्ति होती है, प्रभु के दर्शन होते हैं । तो जीते जी मरना सीखें, ऐसा कहने का मतलब यह है कि भीतर में तनिक भी अहंकार न रहे, - मेरापन न रहे । 'तू ही तू' रट रहे और इसी रट में, उस परमोच्च स्थिति में पहुँच जाए, जहां का वर्णन करने के लिए शब्द असमर्थ है । वह स्थिति हमारे रोम रोम में बस जाए ।

"तन में राम, मन में राम, रोम रोम में राम ही राम"

राम हमारे जीवन में प्रकट होकर प्रकाशित हो, भासित हो, तब समझे की साधना में कुछ प्राप्ति हुई है । इसलिए हमेशा स्वनिरिक्षण करते रहना चाहिए । इसके लिए जो भी त्रुटियां आप अपने कर्म चरित्र या व्यवहार में देखे उससे निवृत्त होना चाहिए, उन्हें दूर करना चाहिए । सबसे पहले छोटी छोटी कमियों को दूर करना शुरू करें ताकि उत्साह बढ़े । यदि आपसे स्वयं ऐसा नहीं हो पाता तो जिनसे दीक्षा ली है, जिनको गुरु बनाया है, उनके चरणों में जाकर प्रार्थना करनी चाहिए, उनसे सहायता के लिए निवेदन करना चाहिए । अपने आपको भीतर से साफ करते चले जाए - निर्मल - निर्मल से भी निर्मल होकर मलीन जलाशय में भी खिलते हुए कमल के पुष्प की भाँति रहे । यही दशा तो साधना की सफलता और सार्थकता सीढी है ।

उपासना और मौन साधना के साथ

अपनी बुराइयों का चिंतन नहीं, त्याग हो

कुछ परमार्थी लोग कहते हैं कि भजन आदि पढ़कर भक्ति या उपासना करने से ही भगवान मिलते हैं । कुछ अन्य लोग कहते हैं कि नहीं, केवल मौन की ध्यान साधना करने से ही आत्मा की अनुभूति होती है । यह एक प्रकार का वाद विवाद का विषय है । अतः इसके बारे में हठ नहीं करना चाहिए । हठधर्मी करना एक अवगुण है । परिणाम स्वरूप हमारी जीवन यात्रा में गतिरोध होता है ।

एक कलाकार स्त्री, जहाँ मूर्तियाँ बनती थी, वहां रोजा जाया करती थी । कितने ही समय उस कार्य क्षेत्र में जाती रही, जब स्वयं बनाने बैठीं, तो काफी समय लगा, कई महीने लगे पर उसकी लगन बढ़ती गई । बनाते समय वह अपने आप में इतना खो जाती थी कि बाहर का होश भी नहीं रहता था । कुछ महीने पश्चात वह मूर्ति तैयार हो गई । मूर्ति बड़ी सुंदर थी । ऐसा मालूम होता था कि जिसकी मूर्ति बनाई है, उसका वह प्रसन्नता स्वरूप बांट रहा है । कलाकार स्त्री उस मूर्ति को देखकर इतनी प्रसन्न हुई कि वह उस मूर्ति की पूजा करने लगी । धीरे धीरे उस मूर्ति के साथ बातें करने लगी । इस तरह करते करते वह कलाकार स्वयं मूर्ति रूप हो गई । जिस देवी या देवता की वह मूर्ति बनाई थी उसके सारे गुण, उसकी शक्ल-सूरत, कलाकार के रोम रोम मन में बैठ गई । ऐसी थी उसकी कला साधना । यही उपासना की, परमार्थ साधना की, अंतिम परिणति या पूर्णता है । इसका बड़ा महत्व है ।

साधना में जिस वक्त हम बैठे । उस समय परमात्मा की कृपा के (अपने ईष्टदेव के या परमात्मा के जिस रूप को हम मानते हैं, उसके) खूब गुणगान करें । जितनी उसकी स्तुति कर सकते हैं, करनी चाहिए । शुरू में तो सगुन रूप का ध्यान करते है । वही सगुन रूप वाले आगे चलकर निर्गुण हो जाते हैं । उनके स्वरूप को उनके गुणों को आखों के द्वारा हृदय में उतारना चाहिए । छोटा सा एक उदाहरण है । बहनें दही बिलोती हैं, काफी बिलोनें के बाद थोड़ा सा गरम जल डाल कर प्रतीक्षा करती हैं तब मक्खन निकलता है । यदि दही को निरंतर बिलोते जाइए तो मक्खन नहीं निकलेगा । मक्खन पाने के लिए बिलोना भी आवश्यक अंग है और ठंडा पानी या सर्दियों में गर्म पानी डालना भी आवश्यक काम है ।

इसी प्रकार भक्ति और मौन साधना व उपासना दोनों का अपना अपना महत्व है । मौन में जिन गुणों को आपने जिन गुणों को सराहा जिनका कीर्तन किया था, वे मक्खन बनकर, साकार होकर आपके चित् में दिमाग में बसते हैं । हम जिस तरह की शिक्षा बच्चों को सिखाते-पढ़ाते हैं - वे वैसे ही बनेंगे । जैसे ही आप विचार करेंगे, वैसे ही आप बनेंगे ।

अत: भक्ति और ज्ञान के दोनों माध्यम भजन कीर्तन और मौन आंतरिक साधन इन दोनों को अपनाना चाहिए । जो पुराने अभ्यासी हैं जिनको मौन में शांति मिलती हैं, उनके लिए थोड़ी सी ही प्रार्थना और उपासना काफी है । परन्तु जो नए भाई हैं उनको भजन-प्रार्थना करनी है और जैसा वे बनना चाहते हैं, वैसी भावना धारण करना चाहिए । जितना समय लगे उसमें लगना चाहिए । प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकता अनुसार इन दोनों में समन्वय रखें । एक ही प्रकार का रखना चाहें तो यह नहीं चलेगा । दोनों की ही आवश्यकता है । यह नहीं कि एक ही को किए जाये, दूसरे को न करें, यानि केवल मौन साधना हीं करें या केवल उपासना करें । यह भूल है ।

जब तक भीतर में आपका भाव नहीं बनेगा तब तक भक्ति सफल नहीं हो सकती, बिना भाव के आत्मा का प्रकाश जो आपके भीतर में है वह भी विकसित नहीं हो सकता । भाव रास्ते के एक पड़ाव जैसा है वह भी विकसित नहीं हो सकता है । भाव तो मंजिल नहीं है, रास्ते का एक चरण हैं । अपने चित्त को निर्मल करना हैं । यदि चित्त मलीन है तो आप कितनी हीं प्रतीक्षा करते रहिये, आत्मा का प्रकाश दिखाई नहीं देगा । भीतर में चित्त को धोना है, और वह निरंतर धुलता रहे भाव द्वारा, प्रेम द्वारा, ज्ञान द्वारा । इससे धीरे-धीरे बाहरी व्यवहार भी शुद्ध होता जाएगा ।

इसलिए शुरू में जब साधना करते हैं तो जब तक मन शुद्ध न हो जाए तब तक भगवान के कीर्ति का गुणगान करते रहना चाहिए । जब देखे कि अब मन शांत हो गया है,आगे बढने योग्य हो गया है तब मौन की साधना करें । लोग बाग शिकायत बहुत करते हैं कि पूजा में विचार बहुत आते हैं । विचार इसलिए आते हैं कि हमारा मन मलीन है, हमारी परमात्मा के प्रति श्रद्धा में कमी है । हम यह समझते नहीं कि हम उनके चरणों में बैठे हैं और वे कितना महान हैं । उनके प्रति हृदय में भाव की गहराई है ही नहीं, और भय भी नहीं है । भय उससे होता है जिसके प्रति हमारे मन में सम्मान होता है, प्रेम होता है ।

अतः जब भी मन इधर उधर भागे तब अपनी आँखें खोल कर उस वक्त कुछ पढ़ना शुरू कर दीजिये, भजन गाना शुरू कर दीजिये जैसा भी, जो भी आपको आता है । थोड़ी देर आँखें बंद कर लीजिये और मौन साधना करिये, आंतरिक साधना करिये । अगर तब भी मन नहीं ठहरता तब आँखे खोल कर या बंद करके ईश्वर के चरणों बैठकर खूब रोइए और विनती करिये कि हे प्रभु, मेरी यह कैसी दयनीय अवस्था है ? मैं कैसे आपको मुंह दिखाऊँ । मीरा जैसी महान भक्ति की साक्षात मूर्ति भी कहती है कि मैं **"मैली चुनरी ओढ के कैसे द्वार तुम्हारे आऊँ"** । वह रोती हैं, तड़पती है । पर हमारे भीतर में ऐसी तीव्र व्याकुलता क्यों नहीं होती ? विरह की वेदना और व्याकुलता के बाद मन में स्थिरता आती है । मन तब आत्मिक साधन करने के लिए योग्य या तैयार हो जाता है ।

एक और भूल है । लोग बाग मन की एकाग्रता को ही अंतिम साधन समझ लेते हैं ऐसा नहीं है । साधना के चार अंग है । एकाग्रता प्रथम अंग है । एकाग्रता से मन स्थिर होकर मन में शक्ति आती है । परन्तु यह तो एक चरण है, बाकी तीन चरण और हैं । यात्रा लंबी हैं, यही नहीं ठहरना है, इसके बाद आता है - **मनन, चिंतन** । एकाग्रता किसके लिए कर रहे हैं, व्यक्ति या परमात्मा के लिए । हम कौन है ? चिंतन करते हैं वह 'सत स्वरूप' है, जिसका चिंतन कर रहे हैं । 'सत रूप' से क्या अर्थ है ? चिंतन करने से अपने इष्टदेव का स्वरूप और गुण आपकी स्मृति में आकर धीरे धीरे आपका ही स्वरूप बन जाए ।

भक्ति में भी ऐसा किया जाता है । महापुरुषों की सेवा में बैठ जाओ, उनके उपदेश सुनो, उन पर मनन करो । फिर मनन करके, निध्यासन करना, उनको अपनाना और व्यवहार में विकसित करना, यही मनन चिन्तन का लक्ष्य है ।

<u>अब तीसरा अंग शुरू होता है</u> । जब मनन करके ऐसे योग्य हो जाते हैं तब समाधि का आनंद आता है । समाधि में क्या होता है ? समाधि लगाने वाला रहता ही नहीं । उसका मन बिलकुल शांत स्थिर हो जाता है । जब मन नहीं रहता तो किसका ध्यान करेंगे । जिसका ध्यान करते हैं उसका भी रूप नहीं रहता । समाधि में आँखे खुली रहे या बंद रहे यह सब ध्यान न देने की बातें हैं - यह उनके लिए, जो बुद्धि के स्थान पर हैं । यह भिन्न भिन्न प्रकार की पद्धति उन लोगों के लिए है जिन्हें सुनने का ज्यादा शौक है । प्रेम में विद्वता की जरूरत कहाँ है । बड़े बड़े कवियों की कवित्व शक्ति भी हार जाती है, गोपियों के प्रेम का वर्णन करने में ।

नए साधकों के लिए तो जो कुछ मैंने निवेदन किया है उनका पालन करना ही हितकर है । अफीमचियों की तरह केवल प्रेम की बात सुनकर उन्हें अपने आप को गर्क नहीं कर देना चाहिए । हमें आंतरिक साधना तो करनी ही होगी । और साधना के भिन्न प्रकार के जो अंग है, जो आपकी सेवा में रखें हैं, इन पर गौर करिये और अपनाने की कोशिश करिये ।

जो लोग कहते हैं कि प्रगति नहीं होती, उसका यही कारण है कि न तो ठीक से प्रार्थना करते हैं न उपासना करते हैं, न रोते हैं । इसके अतिरिक्त ना हीं अपने जीवन में आचरण की ओर ध्यान देते हैं । सारे दिन आँखों द्वारा कानों द्वारा व्यर्थ की गंदगी भीतर में डालते रहते हैं, और फिर कहते हैं कि साहब मन नहीं लगता, बुरे-बुरे विचार आते हैं । बुरे विचार आते कहाँ से हैं ? वो तो भीतर में जमा हैं, वो तो निकलेंगे ही, उनको दबाने की जरूरत नहीं है । उन्हें निकलने दीजिये । यह परमात्मा की कृपा है कि वे निकलते हैं । चोर घर में आता है तो क्या उसको बैठाते हैं, उसको तो फौरन बाहर भगा देते हैं । नए चोर (ख्याल) न आए, इसके लिए हम सावधान रहे । चित् को निर्मल रखें ।

अपनी सारे दिन की दिनचर्या को शुद्ध रखें, जिसमें सद्गुणों को, सद्विचारों को अपनाएं तथा सबसे सद-व्यवहार करें । सारे दिन दुनिया का चिंतन करते रहते हैं । जीवन तो जैसा है वैसा ही रखते हैं, पर चाहते हैं कि साधना में बैठ कर मन एकाग्र ह जाए, तो यह कैसे हो सकता है । सारे दिन अपने भीतर देखते रहना चाहिए कि चित् मलीन न होने पाए । जब प्रभु को अपना लिया है कि वह हमारा सच्चा पिता है, वहां हमारी रक्षा करता है तो फिर हमें चिंता कैसी ?

अपनी त्रुटियों का बुराइयों का सारे दिन चिंतन करने से, बुराइयां और अधिक दृढ हो जाती हैं । इसलिए कहते हैं कि केवल ईश्वर का नाम ही सुमिरन करो । प्रश्न उठता है कि जिसका चित्त निर्मल है उसको स्मरण करने की क्या आवश्यकता है । सुमिरन करने का मतलब है कि परमात्मा के सत-स्वरूप को और उसके सद्गुणों की स्मृति को धारण करो । केवल 'राम' 'राम' करने से कुछ नहीं होगा । कबीर साहब कहते हैं कि काठ की माला जपने का मतलब यह है कि जिसके नाम की माला जपते है उसके स्वरूप को अपने जीवन में बसायें, उनके गुणों का स्मरण, अनुकरण करें ताकि जैसा आप सोचें - विचारेंगे वैसे ही आप हो जाए । जिस प्रकार का आप नाम लेंगे, वैसे ही आप हो जाएंगे । कहते हैं कि "तू - तू करता तू भया,

मुझमें रही न 'मैं' । 'तू' का 'प्रभु' का जो रूप है, गुण हैं, उनको हमें अपनाना है, तब हम 'तु' बनेंगे ।

महात्मा बुद्ध की साधना को हम कह देते हैं कि वह शून्य की साधना है, उसमें गुण नहीं है, सत्-चित्-आनंद नहीं है, परन्तु हम तो ऐसी साधना भी नहीं करते । हमारी साधना तो शुन्यता से भी पिछड़ी हुई है । दूसरों की तो प्रतिक्रिया हम कर लेते हैं परन्तु हम स्वयं का निरीक्षण करके देखें कि हम क्या करते हैं, कितना करते हैं - कितने पानी में है ।

परमात्मा के गुणों को सराहिए, इसी का नाम कीर्तन है, संगीत है, प्रार्थना - उपासना है । जितना सराहेंगे उतना ही आपको लाभ होगा । केवल आँखे हीं बंद करेंगे तो क्या होगा ? एक शून्य अवस्था आ जाएगी । यदि इसके परिणाम स्वरूप हमारे जीवन में परिवर्तन नहीं आता है, हमारे भीतर में से क्रोध नहीं समाप्त होता है, दीनता नहीं आती है, प्रेम नहीं बढ़ता और हम किसी परिस्थिति में भय से मुक्त नहीं हो पाते हैं तब यह सोचना चाहिए कि साधना से लाभ नहीं हुआ । यदि हमारे भीतर में वही विकार हैं - भय भी है, क्रोध भी है, अधिक बोलते हैं, दूसरों की प्रतिक्रिया करते हैं, बुरा-भला भी कहते रहते हैं तो हमने क्या हासिल किया ? क्या साधना की ?

भगवान शिव की साधना का विचार करें - वास्तव में मौन साधना तो उनकी है । संसार भले उन्हें विष पिलाए, गले में जहरीला सांप डाल दें, परन्तु वे क्या करते हैं ? प्रेम की गंगा, ज्ञान की गंगा से सब को स्नान कराते हैं । हम उन्हें क्या देते हैं ? हमें तो अपने पापों से उनको दुःख देते रहते हैं और वे बदले में क्या करते हैं ? हमें ज्ञान प्रदान करते हैं, शांति और प्रेम देते हैं । हमें तो कोई गाली या कुछ भी दे तो हम तुरंत प्रतिक्रिया करते हैं, हमारी साधना कहा तक पहुंची, कितनी प्रगति हुई है, इसको स्वयं अपने आचरण का निरीक्षण परीक्षण करके देखते रहना चाहिए ।

साधना के विषय में एक बात और ध्यान रहे कि अपनी बुराइयों का चिंतन नहीं करना चाहिए, स्व-निरिक्षण करना चाहिए । महीने में एक बार या महीने में दो बार । रोज नहीं करना चाहिए । जितनी बुराइयों का चिंतन करेंगे उतना ही बुराइयां चित्त में दृढ होती जाती है । चिंतन केवल परमात्मा का करना चाहिए, उनके गुणों का स्मरण करना चाहिए, मगर स्व-निरीक्षण जरूर करना चाहिए । जो-जो कमी आप देखें उनको दूर करने की कोशिश करें । इसके लिए चाहे पूजा करें, चाहे मौन साधना करें या गुरु से प्रेम करें - जैसे भी बन सके इस कमी से

निवृत होने की चेष्टा करते रहे और दृढ़ संकल्प से यत्न किया तो अपनी बुराइयों को छोड़ भी पाएंगे ।

एक कन्या है - बीस साल अपने माता-पिता के घर में रहती है । जैसे ही उसकी शादी होती है, ससुराल में जाती है तो अपने पहले घर को मनो भूल जाती है । ससुराल में ऐसी घुल-मिल जाती है और वहां के संबंधियों से ऐसा संबंध पैदा कर लेती हैं जैसे कि वह सदा से वही रहती आई हो । ऐसा क्यों है, क्योंकि वह अपने मायके की सब बातें भुला देती हैं ।

आप ईश्वर से प्रेम कैसा करते हैं जबकि अपनी बुराइयों को भुला नहीं पाते, नहीं छोड़ सकते ? कहते हैं कि साहब, यह छूटती नहीं । छोटी छोटी बातों को छोड़ने के लिए कहा जाता है तो कहते हैं कि हमसे तो छूटती ही नहीं है, आप छुड़वा दीजिये । यह बहुत बड़ी कमजोरी है ।

हमें स्वयं दृढ़ निश्चय करके बलशाली बनना होगा । बुराईयों से चिंतित और दुखी होने की अपेक्षा स्व-निरीक्षण करके - गुरदेव का, अपने इष्ट का सुमिरन करें, फिर एक-एक करके उन बुराइयों पर विजय प्राप्त करते जाएं । परमार्थ पथ पे प्रगति तीव्र होती जाएगी ।

गुरुदेव आपको सफलता दे ।

गुरु भक्ति अथवा कान्ता भाव

द्वारा परमात्मा का दर्शन

हमारी संस्कृति में यह विचार धारा रही है कि जब तक हम गुरु धारण न करें, हमारा उद्धार नहीं होता । नारद जी के हृदय में एक उत्सुकता उत्पन्न हुई है कि भगवान विष्णु से पूछें कि उनके गुरु कौन है ? भगवान के निकट रहते थे । उनसे बात करने में संकोच नहीं करते थे । भगवान से पूछते हैं कि आप सबसे कहते हैं कि गुरु धारण करना चाहिए । कृपा करके "आप बताइये कि आपके गुरु कौन है ?" भगवान मौन रहे । परंतु आंखों से प्रेम के अश्रु बहने लगे । नारद जी चंचल प्रकृति के थे । उन्होंने पूछा है कि "आप बताते क्यों नहीं है ?" भगवान इतने प्रेम विभोर हो रहे थे कि चाहते हुए भी नहीं बोल पा रहे थे, बार बार नारद जी के कहने पर कि "आपका गुरु कौन है" भगवान विष्णु उत्तर देने की कोशिश करते हैं । एक ही अक्षर उनके मुखारविन्द से निकला है "गो" । वह कहना चाहते थे 'गोपी' । परन्तु 'गो' कह कर हीं ध्यान मग्न हो गए । गोपिया उनकी गुरु हैं । सोचिये, यह कैसी बात है कि भगवान को भी गोपियों को गुरु बताना पड़ा ।

गुरु जीवन का एक आदर्श है । आप जो कुछ भी बनना चाहते हैं उनका आदर्श गुरु है । किसी व्यक्ति की सहायता से आपको आदर्श की प्राप्ति हो सकती है तो आप उसको गुरु बना लेते हैं । भगवान प्रेम स्वरूप है । भगवान कृष्ण गोपियों के साथ रासलीला करते हैं । प्रेमियों की रासलीला है । घर बार के सब काम-काज छोड़कर कृष्ण के साथ रासलीला करती हैं । ना तो कोई मर्यादा का पालन करती है, न संसार की लज्जा का ख्याल रखती हैं । भगवान के चरणों में दौड़ी-दौड़ी पहुंच जाती है । उनके प्राण भगवान हैं । उनका शरीर भगवान है । उनका जीवन भगवान है । भगवान के लिए ही जीना है । इसी प्रेम की गहराई से विभोर हुए भगवान विष्णु उन्हें बस 'गो' कह पाते हैं और ध्यान-मग्न हो जाते हैं ।

नारद जी ने भक्ति सूत्र में नवधा भक्ति का वर्णन किया है - अपने प्रियतम की याद में हर समय रहना ; उनके गुणों को सराहना ; संसार के वैभव की लालसा न करना ; संसार के पदार्थों की इच्छा न रखना ; यहां तक कि मुक्ति को तुच्छ समझना आदि । सब कुछ ही प्रेम-मय हो, यह प्रेम की साधना है - भक्ति है । यही कान्ता भाव है, भक्ति की सिद्धि है । जो लोग, यहाँ तक कि पढ़े लिखे लोग भी, भक्ति के रूप को नहीं समझते, वो भगवान कृष्ण और

राधा जी के प्रेम की आलोचना करते हैं । यह अज्ञान है, नासमझी है । मन के स्थान पर बैठा हुआ व्यक्ति कान्ता भाव को क्या समझे ? कांता भाव है ईश्वर में लय हो जाना, ईश्वर बन जाना । संसार में मानव जन्म धारण करके, प्रेम की लीला द्वारा ही ऐसी दशा की उपलब्धि कर लेना ।

यह भक्ति कैसे की जाती है ? सुफियों में पहले 'फना' होना या गुरु में लय होना बताया जाता है । 'फना' का सही मतलब है - अपने आपको खत्म कर देना, गुरु या ईश्वर में लय कर देना, अपना अस्तित्व समाप्त करके मालिक का अस्तित्व मानना । यह अंतिम चरण नहीं है, इसके आगे है 'बका' । हिंदी में उसे कहते हैं पुनर्जीवन । इसमें ईश्वर आज्ञा के अनुसार जीते जी रहना, पुनर्जन्म लेना है । संसार के प्राणियों को अपने ईश्वरमय जीवन लीला से ईश्वर प्राप्ति का रास्ता बताना । ऐसे व्यक्ति को गुरु या संत कहते हैं । सामान्य लोग यह समझते हैं कि एक बारगी लय हो गए, बूंद सागर में मिल गई, सागर रूप बन गई और उनका जीवन यात्रा पूरी हो गयी । अरविन्द जी इसको पूर्ण यात्रा नहीं मानते, ना हमारे यहाँ की संस्कृति यह मानती है कि अंतिम चरण है । अरविन्द जी कहते हैं कि "यह स्वार्थ है, एक व्यक्ति की अपनी ही मोक्ष हो जाए - यह स्वार्थ है । यदि किसी व्यक्ति को मोक्ष प्राप्त करना है तो उसे सारे संसार का उद्धार करना चाहिए ।" इसलिए महापुरुष ईश्वर में लय होने के (फना होने के) बाद दूसरा जन्म लेते हैं और महापुरुष, महात्मा औलिया या संत, सदगुरु के रूप में यह संसार की सेवा करते हैं ।

आप बड़े भाग्यशाली है यदि आपको किसी गुरु ने अपनाया है परंतु यह गुरु-ऋण आपको उतारना है । गुरु आपसे पैसा नहीं मांगता तो उसका ऋण उतारने का साधन है क्या ? आप स्वयं पवित्र बने, निर्मल बने, आचार, व्यवहार ऊंचा हो, संसार के राग-द्वेष से मुक्त हो । निर्मल होकर कोशिश करें कि संसार के अन्य लोगों को भी निर्मल बनायें । या जो आनंद प्राप्त हुआ है, उस आनंद की प्रसादी को, जितना भी हो सके बांटे और आगे बढ़ा पायें ।

इसका मतलब यह नहीं है कि हमें गुरु बनना है । हाँ, गुरु के जैसे सद्गुणों को धारण करना है - उनका 'सर्वजनहिताय' सदुपयोग करना है । सेवक बनकर ही तो सेवा की जा सकती है । तनिक वृक्ष की ओर ध्यान दीजिये - उसके बीज का आधार धरती के भीतर जल है । छोटा सा पौधा बड़ा वृक्ष बन जाता है, फूल लगने लगता है, फल आते है तथा सुगंधी निकलती है । परन्तु आधार तो केवल जल ही है । वृक्ष का प्रत्येक भाग संसार की सेवा करता है । पत्तों

से छाया मिलती है, पुष्प सुगंध देते हैं, फल को जीव जन्तु और मनुष्य सेवन करते हैं । यहां तक कि जड़ और बड़ी-बड़ी डाली से लकड़ी की विविध सामान बनाए जाते हैं ।

इसी प्रकार जीवन भी एक वृक्ष है । इसका आधार परमपिता परमात्मा है । आपके भीतर मे उस परमात्मा का अंश है (जो और सबके भीतर भी है) उस अंश का विकास आपको करना है । उस परम आत्मा के जो गुण हैं वह अपनाने हैं । संत उसी के स्वरूप होते हैं । अतः गुरु के जो गुण हैं उन्हें अपना कर, उनका विकास करना है । अपना भी उद्धार करना है और संसार का भी उदधार करना हैं ।

आपके संपर्क में जो भी व्यक्ति आये उसको अपने व्यवहार से प्रेरणा देनी है कि वह भी अपने आदर्श के प्रति विचारशील होवे और सोचने लगे कि यह तो (प्रभु) गुरु का ऋण है, इसे मुझे उतारना है । यह जरूरी नहीं कि आप गुरु बने और अपने शिष्य बनायें तभी गुरु ऋण से मुक्त हो सकेंगे । आप गांव में रहे या शहर में, अपने विकासशील गुणों से, व्यवहार से, घर परिवार समाज की और हो सके तो संसार की सेवा करें । आपका जीवन सदगुणों से भरा हो । संसार अज्ञान में है - अपने जीवन को आदर्शमय बनाकर इसे ज्ञान का प्रकाश दें । यह है गुरु के ऋण से उऋण होना ।

वास्तविक प्रभु दर्शन

प्रत्येक मनुष्य में लालसा रहती है कि प्रभु दर्शन करें । हरिद्वार जाते हैं, गंगा जी में स्नान करने के लिए । कई लोग बनारस जाते हैं, इसी प्रकार अन्य तीर्थों पर भी जाते हैं, दर्शन करने के लिए । आप लोग क्यों दर्शन करते है ? मंदिरों, गुरुद्वारों, गिरजों के दर्शन का मतलब क्या है ? हरिद्वार जाकर गंगा स्नान किया, हरि की पौढ़ी में । वही मेला तमाशा देखा, सैर-तफरी की, खाया पिया और इसी भ्रमण यात्रा को समझते हैं कि दर्शन हो गया । यह तीर्थ करना नहीं है - उसका वास्तविक अर्थ कुछ और ही है ।

दर्शन का अर्थ है कि जो गुरु हैं, परमात्मा है, यदि वैसे ही गुणी बनते जाते है तो समझना चाहिए कि हमें दर्शन का लाभ प्राप्त हो गया । रस्मी तौर पर या दिखावे के लिए किसी महापुरुष का दर्शन या किसी तीर्थ की यात्रा करना कोई विशेष लाभप्रद नहीं होता । इतना लाभ तो जरूर है कि कुछ सद-प्रेरणा मिलती है । परन्तु वास्तविक दर्शन का मतलब तो यह है कि जैसे संतों ने कहा है - 'ईश्वर जैसा हो जाना' ।

बूंद और सागर के जल में वही गुण है जो उसके जल की एक बूंद में होते हैं । आत्मा के भी वही गुण है जो परमात्मा के है - लेकिन कब ? जब आत्मा पर से सब आवरण हट जाते हैं । कुछ लोग सन्यासी बन जाते हैं, सिर मुँड़ा लेते हैं जो प्रतीक है चित् निर्मल होने का । अग्नि या गेरुए रंग के कपड़े भी रंगवा लेते है । अग्नि के समान वस्त्र पहनने का मतलब यह है कि जैसे अग्नि सब को भस्म कर देती है - सन्यासी भी अपने सब संस्कारों को, सबी इच्छाओं को, आशाओं को, समाप्त कर देता है । तब जाकर वह सच्चा संन्यासी बनता है । जो ईश्वर दर्शन का अधिकारी बनता है ।

सब साधक-भाइयों को इस तरफ गम्भीरता से ध्यान देना चाहिए । यह समझ लिया कि गुरु महाराज के दर्शन कर लिए, सत्संग में आ गए तो बस काफी हो गया, ऐसा नहीं है । नए भाई निराश न हो, पुराने भाइयों से करबद्ध निवेदन है कि वह प्रयत्न करें, प्रभु दर्शन के वास्तविक अर्थ को समझने, ग्रहण कर पाने का प्रयास करें । सारे जीवन को, दिनचर्या के प्रत्येक कार्य को, ईश्वरमय बना लें । जब तक हम ऐसा नहीं करेंगे, ईश्वर के गुण हममें नहीं आयेंगे ।

इस संबंध में एक सुन्दर प्रसंग है, भगवान श्रीराम हनुमान जी से पूछते हैं कि उनका स्वरूप क्या है ? हनुमान जी उत्तर देते है - "जहाँ तक मेरा शरीर है, मेरी अवस्था आपके समर्पित सेवक की है । जब मेरी सूरति मन पर होती है तब आपका साथी हूँ - जब बुद्धि पर हो, तब ज्ञानी हूँ और जब आत्मा हूँ तब मैं और आप एक ही है ।"

इसी को गुरुवाणी में लिखा है कि 'अक्षुण्ण तृप्ति हो जाती है' । नामी को भीतर में समा लिया । तभी जाकर जितनी तृष्णाएं थी, सभी समाप्त हो गयी और इतनी तृप्ति है, संतुष्टि है कि अब कोई चाह शेष ही नहीं रही है । तो जब तक व्यक्ति की इच्छाएं उठती रहती है, इश्वर के वास्तव दर्शन नहीं होते परन्तु लक्ष्य हम सब लोगों का यही होना चाहिए कि हमें ईश्वर के दर्शन करने हैं । और उन दर्शन के लिए हम सब को हर तरह की कीमत यानी गोपियों जैसा समर्पण या बलिदान देने के लिए तैयार रहना चाहिए ।

गुरदेव सबका कल्याण करें ।

सत्संग की साधना का सहज उपाय

साधना में बैठते हुए के करना यह है कि प्रेम स्वरूप परमात्मा के चरणों में प्रेममय होकर "मनसा वाचा कर्मणा" स्थित होकर बैठे । इसमें कोई विशेष कठिनाई नहीं है । बाकी जितनी प्रक्रिया संसार में प्रभु प्राप्ति के लिए हैं बड़ी विस्तृत है । जितना हम विस्तार करते गये, परमार्थ को गुढ बनाते गए, साधारण व्यक्ति की समझ में नहीं आता कि वह क्या करे ? बस करना यह है कि आप वैसे ही निश्चल रहें जैसे निद्रा में सोते हैं - उस समय आप कुछ भी तो नहीं करते । शरीर शिथिल है, मन तनाव रहित है तो आप निद्रा का आनंद लेते हैं ।

इसी प्रकार जागृत अवस्था में ही सुषुप्ति की अवस्था में रहना है । जागृत-सुषुप्ति को अपनाना है । क्योंकि जब तक कि हमारी प्रगाढ़ जागृत-सुषुप्ति अवस्था नहीं रहती तब तक परमात्मा के साथ हमारी तदरूपता नहीं होती । हमें अपने आप को तनाव मुक्त करना है । रात को देखिये यदि मन में तनाव है तो आपको नींद अच्छी नहीं आएगी । जब आप शरीर को ढीला छोड़ देते हैं तो निद्रा आपको घेर लेती है और फिर आपको जागने पर प्रसन्नता की अनुभूति होती है ।

इसी प्रकार प्रभु के चरणों में जाकर अपने बल का प्रयोग नहीं करें । शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक इन बातों में से किसी बल का प्रयोग नहीं करें । केवल उसकी इच्छा पर सबको छोड़ दें, जैसे किसी कलाकार के हाथ में लकड़ी या पत्थर दे देते हैं । तो वह कोई अवरोध या बोल नहीं सकता । हम भी अपने आपको पूर्णत: उस प्रेमास्पद के चरणों में समर्पित कर दें । आप देखेंगे कि आपके भीतर में अजीब तरह की शांति और आनंद की अनुभूति कुछ समय बाद होने लगी है ।

प्रभु दयानिधि है उनके गुणों का गान करें और मन ही मन में प्रभु के गुणों पर विचार करें, उन्हें अपनाने का भी प्रयास करें । शरीर को ढीला छोड़ दीजिये । मन में जो विचार है तो मन से कह दीजिये कि इनकी गुनावन थोड़ी देर के लिए न करें । कोई तनाव न हो, हमारे और परमात्मा के बीच में, अहंकार की जो दीवार है उसे तोड़ दीजिये । अहंकार हमेशा विचारों द्वारा काम करता है । विचार ही आत्मा और परमात्मा के बीच की दीवार है । अकारण ही हम संकल्प विकल्प उठाते रहते हैं तथा ख्यालो को अधिक मजबूर करते रहते हैं ।

अभ्यास करना है कि हमारे भीतर में विचार न उठे या कम से कम ही उठे । साधना यह करनी है कि मन हमारे अधीन हो जाय । परमपिता परमात्मा ने हमें मन जैसा बड़ा विचित्र उपकरण प्रदान किया है । इसका सदुपयोग करना है । आवश्यकता हो तो विचार उठा लिया नहीं तो इसको शांत रखना चाहिए । उसी प्रकार जिस प्रकार भगवान शिव का नंदी बैल उनकी सेवा में बैठा है । जरूरत हुई तो उस बैल की सवारी कर लेते हैं, नहीं तो वह उनकी सेवा में शांत बैठा है ।

मन का काम है कि कोई न कोई समस्या खडी कर लेता है । जो अवकाश प्राप्त व्यक्ति है, नौकरी समाप्त हो गयी है, पेंशन मिल रही हैं, बच्चे काम से लगे हैं, फिर भी वह चिंतित है । जीने का तरीका यह है जैसा भगवान कृष्ण गीता में दिया है कि अनासक्ति से कार्य करें, संसार के प्रति पकड़ को ढीला करें । जो अतीत में हो चुका है उसे क्यों पकड़े रहते है ? भूल जाइये वो सब ।

बच्चों की चिंता माँ बाप की होती है । यह हमारी नासमझी है, भूल है । यह अहंकार भी है, नासमझी है । यदि परमात्मा में विश्वास है तो कल के लिए चिंता क्यों ? हमें ईश्वर का आश्रय लेना है । ईश्वर की गोद में बच्चे की तरह बैठना है । वह हमारा सच्चा पिता है । पिता के रहते हुए बच्चों को चिंता की क्या आवश्यकता है ? यह जीने का तरीका है, हमें वर्तमान में ही प्रभु की कृपा को पाना है । यही आत्मिक उन्नति का समय है । इसलिए बाकी सब को छोड़कर, सभी समस्याओं को छोडकर, प्रभु के चरणों का आश्रय वर्तमान में ही ले लें ।

सत्संग में आप परमात्मा की पूजा करना चाहते हैं तो आपको परमात्मा के गुणों की पूजा करनी है जिसका मतलब है परमात्मा के गुणों को सराहना, उनको अपनाना और उन्हें अपनाकर व्यवहार में विकसित करना । परमात्मा का एक विशेष गुण है - क्षमा करना । यदि किसी से शत्रुता है तो उसे क्षमा कर दे, क्षमा परमात्मा का विरद है, अभिन्न रूप है । उसी प्रकार आपका स्वभाव बन जाये, आपको दुनिया में कोई कितनी भी उत्तेजना दे, विरोध करे, आप उसको माफ कर दें ।

यदि सत्संगी यह कहता है कि उसने ऐसा सबक सीखा दिया है या किसी के साथ बदले लिए वैसा किया है तो सत्संगी और सामान्य व्यक्ति में अंतर क्या है ? यदि आप अपने आप को सत्संगी समझते हैं तो अपने आप को इन विचारों से ऊपर उठाना होगा । सामान्य व्यक्ति से आपके व्यवहार में अधिक नहीं तो कुछ तो कुछ अंतर तो होना ही चाहिए । आप कहते हैं

कि वह मेरे साथ ऐसा व्यवहार करता हैं, मैं क्यों न करूँ । तो ऐसे भाव या शब्द सत्संगी भाइयों के मुंह से नहीं निकलना चाहिए ।

भगवान महावीर के पास एक रजा गया । कहने लगा कि "दूसरा राजा मुझ से ईर्ष्या करता है" परेशान करता है । उसके पास, मुझसे धन-दौलत कम है । वह चाहता है कि मेरा राज्य भी उसे मिल जाए । पर मैं तो शांति चाहता हूँ, क्या करूं ? भगवान महावीर कहते हैं कि 'इसमें क्या आपत्ति है तुम्हें ? तुम सन्यासी बन जाओ और अपने राज्य उसे दे दो । उसकी संतुष्टि हो जाएगी' । ऐसा होना चाहिए एक सत्संगी का व्यवहार । सत्संगी को तो बलिदान देना ही पड़ेगा । यदि वह भी वही कार्य करता है जो सामान्य व्यक्ति करता है तो सत्संग का क्या लाभ ? तितिक्षा अपनानी होगी ।

वास्तविक लाभ तब होगा जब हमारे भीतर में वही गुण समा जाए जो ईश्वर के होते है, ईश्वर पूजा, गुरु पूजा, या ईष्ट पूजा यही है । उसके गुणों को सराहे और उसके उनके गुणों को अपनाने का प्रयास करें । गुरु दर्शन या ईश्वर दर्शन यही है कि ईश्वर, गुरु या ईष्ट के जो गुण हैं वो हम में समा जाए । आत्मा या जीव और परमात्मा में इतना ही अंतर है कि परमात्मा सागर है जीव उसकी एक लहर या बूंद । मात्रा का अंतर है । गुणों में अंतर नहीं है ।

इस वक्त हो क्या रहा है ? विकारों के कारण हमारे गुण छिप गए हैं । साधना यही करनी है कि जो गुण ईश्वर में हैं, साधक वही गुण सीखे, उसका विकास करें । पुराने विचारों से धीरे-धीरे मुक्त हो, सद-विचारों को अपनाकर अच्छे कार्य करें । धीरे-धीरे मन को प्रभु के चरणों में लय करते चले जाएं । कोशिश यह करनी चाहिए कि हम निर्विचार और निर्विकार हो ।

पूजा से पहले इसलिए स्तुति गाते हैं, भजन आदि द्वारा प्रार्थना करते हैं, परमात्मा के गुणों को याद करते हैं, सराहते हैं । इससे वातावरण बना लिया । परमात्मा की नजदीकी प्राप्त कर ली, अब उससे प्रार्थना करे, जो मांगना है मांगे, फिर उसकी प्रसादी लेने के लिए अपने आप को उसके चरणों में समर्पण कर दें । उसकी कृपा की गंगा में स्नान करें, डुबकी लगाएं । यदि आप अपने मन को दृढ करना चाहते हैं तो थोड़ा-थोड़ा अभ्यास भी करें, आज्ञा चक्र पर (या जैसे भी आपको अपने गुरुजनों ने बताया है) फिर प्रसाद अर्पण करें और प्राप्त करें ।

प्रसाद चढ़ाने और लेने का तरीका यह है कि पहले प्रसाद को परमपिता परमात्मा के चरणों में बड़ी दीनता से अर्पित करनी चाहिए । प्रसाद को जब बांटा जाए तब बांटने वाला अपने

इष्ट देव में लय हो कर बांटे । जो भी प्रसाद ले वह अपने गुरु देव, ईष्टदेव के ध्यान में, लय होकर प्राप्त करें । ऐसे प्रसाद से रोगियों के रोग तक ठीक हो जाते हैं । परन्तु कभी-कभी प्रसाद को हंसी मजाक में बांटते हैं और लेते हैं । सदा प्रसाद शांतिपूर्वक प्राप्त करें । ऐसा न करने से प्रसाद की महत्ता घट जाती है ।

बालक नाम देव ने प्रभु के चरणों में प्रसाद चढ़ा कर प्रार्थना की है कि "मेरे पिता जी से आप नित्य प्रसाद ले लेते थे, मुझसे क्यों नहीं लेते ?" प्रसाद लेने की हठ करते है और बच्चों की स्वाभाविक सरलता से प्रभु से कहते हैं कि, 'यदि आप सीधे तरीके से नहीं माने तो मैं डंडा लिए आता हूँ ।' भगवान तो प्रेम और सरलता के भूखे हैं, प्रकट होकर दूध पी लिया । दीनता से, सरलता से ही प्रसाद समर्पित करना चाहिए ।

सब मिलकर प्रार्थना करें कि 'हे प्रभु ! हे गुरुदेव ! आप हमारी इस तुच्छ भेंट को स्वीकार करिये ।' ऐसा करने पर वास्तव में परमपिता परमात्मा और हमारे पूर्वज संत उसे स्वीकार करते हैं । जब प्रसाद ले तो आदर से, शांति से लें । सत्संग में कम से कम प्रसाद बटने तक तो नितांत शांत रहें ही । ईश्वर की जो कृपा यहाँ बरस रही है उसका अनुभव यहाँ करें और उसी भावना से घर लौटे । थोड़ी देर के लिए ही सही, कृपा का अनुभव तो करें, बच्चे तो शोर मचाएंगे ही. उन्हें मचाने दे परन्तु हम बड़े तो शांत रहें, इसका ध्यान अवश्य रखें ।

साधकों को अभ्यास के साथ साथ मनन और अध्ययन भी करना चाहिए । अपनी इष्टदेव के, गुरुदेव के प्रवचन पढ़ने चाहिए । थोड़ा पढ़िये, मनन अधिक करिये और देखिये कि उसके क्या भाव है ? जैसे मौन रहना है तो ये क्या चीज है ? हम मौन क्यों रहें ? इससे क्या लाभ होगा या क्या हानि हो सकती है ? इस पर आप मनन कीजिये । मनन करने से, जिस बात पर मनन करते हैं वह दृढ हो जाती है । आमतौर पर सत्संगी लोग मनन नहीं करते, किन्तु करना चाहिए । सत्संग में सुन लिया और बाहर जा कर निकाल दिया, इससे क्या लाभ ? कुछ लोग हैं जो नोट भी रखते हैं, पर उनकी कॉपियां भी अलमारी में पड़ी रहती हैं ।

पूज्य लाला जी महाराज (दादा गुरुदेव) का गुरु महाराज का जो साहित्य है, वही हमारे लिए गीता है, रामायण है । कबीर साहब, गुरु नानक या संतों की वाणी को पढ़ना चाहिए । इन सबका मनन करना चाहिए और उनकी गहराई में जाना चाहिए । शब्दों में जो गंगा छिपी है उसमें भीतर घुसकर स्नान करें । जैसे सागर की गहराई में जाकर मोती निकाले जाते हैं वैसे ही

गुरु ईष्टदेव के वचनों की गहराई में जाए । जितना आप उनकी वाणी का मनन करेंगे उतना ही उनके नजदीकी जाएंगे ।

एक बात और है हमारे मन में यह गलत विचार है कि केवल आँखें बंद कर के बैठने से ही लाभ होता है । यह ठीक है कि जैसे प्रात: स्नान करते हैं, शरीर साफ हो जाता है, स्फूर्ति आ जाती है, ताजगी आ जाती है, इसी प्रकार प्रातःकाल स्नान करने के बाद कुछ समय के लिए ईश्वर का चिंतन करने से, पूजा करने से, कुछ और ताजगी आती है । परन्तु जिनको समय नहीं मिलता, जैसे स्त्रियां - उन्हें समय नहीं मिलता तो वह बेचारी परेशान रहती है - उन्हें परेशान होने की कोई आवश्यकता नहीं । हम सुबह से शाम तक जो भी कार्य करते हैं उन सभी को ईश्वर की पूजा का रूप बना दे, एक यज्ञ बना दें । हर पल ईश्वर से लौ लगाए रहे । वह जो और पूजा की जाती है उससे यह सौगुनी अच्छी है ।

प्रतिक्षण उसकी याद में रहे, यहां तक कि कहीं लड़ाई-झगड़ा हो जाये तो भी ईश्वर की याद में रहें । ईश्वर को याद रखेंगे तो लड़ाई नहीं होगी और हुई भी तो समाप्त हो जायेगी । गुस्सा आ जाए तो ईश्वर को या फिर गुरु महाराज को हमेशा सामने देखे । सब के साथ सुन्दर व्यवहार करें । जितना भी व्यवहार हो, सेवा का रूप लिये हुए हो । हमारी सेवा प्रत्येक को आनंद देने वाली हो । हमारी पूजा दूसरे की प्रसन्नता के लिए हो । शांति देने के लिए ही हो ।

संक्षेप में साधना का सफल रूप यही हो कि अपनी दिनचर्या को ही पूजा का रूप के दीजिये, यज्ञ का, दान का रूप दे दीजिये । दान क्या देना है ? सबके साथ मधुरता का व्यवहार कीजिये । मधुर बोलिए, प्रेम से बोलिए, प्रेम का व्यवहार कीजिये । दफ्तर में जाते हैं तो छ: सात घंटे काम करना है तो उस अवधि मे आपको होश नहीं रहना चाहिए । पूरा काम करना चाहिए, जितनी आप सेवा करते हैं उसके मुनासिब पैसा तो लीजिये किन्तु ज्यादा नहीं । यदि आप अखबार पढ़ते हैं, चाय पीते हैं, काम कम या नहीं करते हैं तो आपकी कमाई ईमानदारी की नहीं है । पवित्र नहीं कहलाएगा ।

इसलिए जो भी क्षेत्र अपनी रोजी का हो चाहे दफ्तर में या दुकानदारी में उसे शुद्ध भाव से पूजा समझ कर करें । हमें हर-एक काम ईश्वर की हुजूरी और ईश्वर की प्रसन्नता के लिए, ईश्वर का ही काम समझ कर करना चाहिए । यदि ऐसा आचरण में - आपके स्वभाव में आ जाए तो यही पूजा बन जाएगी ।

बच्चों के साथ बैठे तो उन्हें ईश्वर की संतान समझ कर ही उनके साथ खेले या पूजा करें । पति हैं तो भगवान विष्णुका रूप माने और पत्नी है तो उसको लक्ष्मी का रूप मानें । संसार को प्रेममय समझ कर ही प्रसन्नता से कार्य करें । पडोसियों के, दीन दुखियों की, सभी की जिनसे भी संपर्क में आए ईश्वर की पूजा के रूप में सेवा करे और ऐसा ही स्वभाव बन जाए ।

ऐसा होना चाहिए हमारे जीवन को जीने का तरीका यही है कि परमार्थ-साधना का व्यावहारिक स्वरूप ।

गुरु-कृपा ग्रहण करने के लिए तत्परता चाहिए

परमात्मा की कृपा या गुरुजन की कृपा, जिसको हम फैज या प्रसादी कहते हैं प्रतिक्षण हम सब पर होती रहती है, उस कृपा को हमेशा ग्रहण करते रहना चाहिए, इसमें भूल नहीं होनी चाहिए । हम भूल जाते हैं, जब बातें करते हैं, खाना खाते हैं या काम करते हैं तो भूल जाते हैं, अतएव सदा सतर्क रहना चाहिए । प्रभु की, संत-जनों की कृपा प्रसादी हम पर प्रतिक्षण बरस रही है - उस वक्त चाहे कुछ भी कर रहे हों, ग्रहण करते रहना चाहिए ।

इस प्रसादी में केवल आनंद ही नहीं इसमें ईश्वर के सारे ही गुण विद्यमान है । जैसे सूर्य और सूर्य की किरणों में कोई भेद नहीं । परमपिता परमात्मा और उसकी कृपा प्रसादी जो हमको मिल रही है उन दोनों में कोई अंतर नहीं । कोई कहता है प्रभु सर्व व्यापक है, दूसरा कहता है वह आनंद के सरोवर है तो कोई इसे सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान मानता हैं । प्रभु के तो अनंत रूप, स्वरूप है वह अरुप भी है । उसका पूरा अनुमान लगाना तो असंभव है, जैसे अग्नि के पास बैठने से अग्नि की ऊष्मा की अनुभूति होती ही है । उसी प्रकार इस फैज़ के मिलने से हमें अनुभव होता है कि परमपिता परमात्मा कितने आनंद के बाद भंडार हैं ।

आप विश्वास रखें कि यदि प्राकृतिक नियमों का पालन करते रहेंगे और इस फैज़ को ग्रहण करते रहेंगे तो आपको जीवन में किसी प्रकार की कमी नहीं आएगी - न ही स्वास्थ्य की, ओर न हीं आत्मिक गुणों की । अमेरिका में आजकल बहुत चर्चा हो रही है । आत्मिक साधनों से बीमारियों को दूर करने की, वह गलत नहीं है, परंतु कुछ लोग इसका दुरुपयोग कर रहे हैं । आध्यात्मिक प्रक्रियाओं द्वारा उपचार करने की वास्तविकता के बारे में जो कुछ बताया और लिखा जा रहा है, वह गलत नहीं है ।

ईश्वर सब गुणों का भंडार है, हम यदि अपने आप को पूर्णतया समर्पण कर दें तो हम में भी वही गुण आते जाएंगे । ईश्वर सत-चित्-आनंद स्वरूप है । हम भी सत्य-स्वरूप, ज्ञान स्वरूप और आनंद स्वरूप हो जाएंगे, यदि समर्पित भाव से और तत्परता से प्रयास में लगे रहे । और यह प्रयास हैं गुरुदेव द्वारा बताई गई साधना या अभ्यास जो कि बड़ा सरल साधन है । शायद इसी के सरलता के कारण लोग-बाग इस को महत्व नहीं देते हैं । आज विदेशों में लोग एक-एक मिनट की सुख शांति के लिए, हजारों खर्च कर रहे हैं । परंतु यहां तो ईश्वर की कृपा मुफ्त में बँट रही है । यदि कोई व्यक्ति इस परसादी को अपने आग्रह नहीं कर सकता तो उनसे मेरा

निवेदन है कि वह किसी महापुरूष सेवाओं में जाए उनके पास जाकर कुछ न करें शारीरिक मानसिक किसी प्रकार का प्रयास नहीं करें कवर से सेवाएं बैठे कुछ ही संवाद उनको अनुभव होगा कि भीतर भी बाहर दोनों तरफ बड़ी शांति और आनंद की लहर चल रही हैऐसी अनुभूति के क्षणों में कइयों को तो होश ही नहीं रहता है यह वह कहते हैं कि आज तो इतना जरूर पर नशा आया तो कभी पहले आया ही नहीं था या नशा नहीं है आत्मा का एक गुण है - आनंद है । उस आत्मिकता की दशा में मन स्थिर हो जाता है, बुद्धि की चंचलता खत्म हो जाती है । तर्क-वितर्क के द्वंद खत्म हो जाते हैं, स्थिरता आ जाती है । एक सरूर सा भीतर अनुभव होता है जिसको हम आनंद कहते हैं । यह साधक को बहुत अच्छा लगता है ।

इस आत्मिक आनंद की प्राप्ति के लिए निरंतर सतर्क रहना चाहिए, जैसे चातक का मुँह निरंतर खुला रहता है कि पता नहीं कब स्वाति नक्षत्र की बूंद उसके मुँह में पड़ जाए । जब एक पक्षी इतना इंतजार कर सकता है तो क्या मनुष्य जिसको पता है कि परमात्मा की कृपा हर वक्त बरस रही है वो क्यों न अपने हृदय का मुंह खोल कर उसे प्राप्त करें । क्यों न अपने आप का समर्पण करें । आज तक स्वाति बूंद किसी ने देखी नहीं है, हो सकता है वह आत्मा का हीं रूप हो ।

हमारे यहाँ का साधन है कि हमें हमेशा उस रुहानी फैज की उस स्वाति बूंद की प्रतीक्षा में प्रतिक्षण तैयार रहना चाहिए । हमारा मुख खुला रहना चाहिए और इस महान उपहार को ग्रहण करने के लिए साधक को चाहिए कि अपनी प्रकृति को बदले । साधक के स्वभाव में दीनता आनी चाहिए जो कि अहंकार त्यागने पर ही संभव होगी । अहम भाव के रहते हुए प्रभु कृपा की प्राप्ति कैसे होगी ?

जब लग में था हरी नहीं, अब हरी है मैं नाहिं ।
प्रेम गली अति सांकरी, जामें दो न समाहिं ॥

इस अहंकार का अर्थ है 'मैं और मेरापन' । इसको छोड़ दें । अहंकार का त्याग करके दीनता को अपनाएं । दीनता का अर्थ यह है कि अपना काम निकालने के लिए हम कुछ समय के लिए मीठे शब्द और मधुर व्यवहार को अपना ले । दिन भाव सतत बना रहे । पूजा में भी साधक को अस्तित्व का भान ही न रहे । केवल परमपिता परमात्मा ही हो । ध्यान अवस्था ऐसी हो जाए कि ध्यान करने वाला रहे ही नहीं ।

दीनता का एक और अर्थ यह है कि 'जेहिं विधि राखे राम तेहिं विधि रहिए' । भगवान ने गीता में भी यही कहा है । कबीरदास जी आदि अन्य संत महापुरुषों ने भी ऐसा ही कहा है कि अब अपनी इच्छा कुछ नहीं है, अपनी आशा अभिलासा कुछ नहीं है, गुरु या ईश्वर जिधर ले जाये, वही ठीक है, हमारे हित में है भी चाहे परिस्थितियां सुखदायी हो या दुखदायी । जिज्ञासु के हृदय में संतोष हो । भगवान कृष्ण भी यही कहते हैं - मेरा वही भक्त मुझे अति प्रिय है जो संतुष्ट रहता है, जो किसी भी परिस्थिति में - दुःख में, सुख में - सम रहता हैं और हमेशा हर हाल में प्रसन्न रहता है ।

"मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा ।

तेरा तुझको सौंपते, क्या लागे हैं मेरा ॥

ईश्वर से या गुरु से नाता पति-पत्नी संबंध जैसा है । हम राधा जी से प्रेरणा लेते है । राधा जी भगवान कृष्ण की विवाहिता स्त्री नहीं थी । हमारे देश के लिए यह गर्व की बात है कि प्रत्येक स्त्री अपने पति की राधिका बनना चाहती हैं, भगवान विष्णु की लक्ष्मी बनना चाहती है । इसी तरह जिज्ञासु भी, जिसमें ईश्वर प्राप्ति की आकांक्षा रहती है, उसको भी गोपियों की भावना से प्रेरणा लेनी चाहिए ।

भक्ति का सर्वोत्तम भाव महापुरुषों ने 'कांता भाव' को बताया है । मथुरा वृंदावन में अभी भी ऐसे कुछ लोग हैं, जो स्त्रियों के रूप में रहते हैं । वे 'सदा सुहागन' कहलाते हैं, घूंघट निकालते हैं और बातचीत भी स्त्रियों जैसी करते हैं और इसी रूप में भगवान को याद करते रहते हैं । उनका यह पहनावा, उनकी यह भगवान के प्रति श्रद्धा और सतत स्मृति हमें प्रेरणा देती है कि 'कांता भाव' की भक्ति-साधना को अपना कर भगवान के चरणों में कैसे पहुंचा जा सकता है ।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हमें प्रेम मार्ग अपनाना पड़ेगा । हमारे देश की साधारण स्त्री अपना तन-मन-धन सब कुछ अपने पति के ऊपर निछावर कर देती है । इसमें प्रेम, दीनता, सहयोग, सहनशीलता और त्याग व बलिदान जैसे गुण भरे हुए हैं जो हमें प्रेरणा दे सकते हैं । ईश्वर प्राप्ति के लिए जिनके मन में अभिलाषा हैं उनके हृदय में ऐसे गुण होना आवश्यक है । जिज्ञासु साधक में जब तक स्त्री जैसी सहनशक्ति, त्याग की लचक और लोच नहीं आएगी, वह ईश्वर को प्राप्त करने का अधिकारी नहीं बन सकता ।

प्रभु के प्रिय इन सद्‌गुणों को अपनाने (और साथ-साथ अपने दोष अवगुणों को छोड़ते जाने के लिए) गुरुजन बताते हैं कि जिज्ञासु स्वयं अपनी स्थिति को परखें - स्व-निरीक्षण करें । हमारे एक बुजुर्ग थे, जो कहा करते थे कि प्रत्येक व्यक्ति को एक डायरी रखनी चाहिए और दिनचर्या उसमें लिखनी चाहिए कि आज क्या किया, क्या बुराई की, क्या नेकी की । परन्तु धीरे-धीरे अपने आचरण का सुधार करते हुए, बुराइयों को छोड़ते चले जाए और सदगुणों को अपनाते चले जाए ताकि हम परमात्मा की कृपा के, गोपियों के समान, भगवान कृष्ण की चरण रज के अधिकारी बन सकें । वैसे तो गुण-दोष दोनों ही प्रभु के चरणों में अर्पण कर देने चाहिए ।

गुरु की प्रसन्नता में ही हमारी सब भलाई है, उन्हें प्रसन्न करने के लिए एक ही सरल साधन है और वह है सेवा । सेवा क्या है ? उनके उपदेशों-आदेशों का पालन करना । सेवा, निष्काम भाव से की गई सेवा तो ईश्वर की भक्ति के लिए, उसके समीपता प्राप्त करने के लिए एक महान साधन है । सेवा से ही दीनता आती है, सेवा से प्रेम मिलता है, सेवा से ज्ञान प्राप्त होता है, सेवा से ही आनंद-लाभ होता है ।

संक्षेप में ईश्वरीय कृपा की (फैज या अमृत प्रसादी की) वर्षा तो होती ही रहती है जिसका आनंद प्राप्त करने के लिए जिज्ञासु साधकों को सदा तत्पर रहना होगा । अपने गुरु (इष्टदेव) की सेवा में जाने से उस अमृत धारा के आनंद की अनुभूति स्वतः होने लगेगी । धीरे धीरे उनकी सत-संगति के प्रभाव से स्व-निरिक्ष्ण व मनन करते चले । उनके बताये अभ्यास को नियम से करें । और गुरु की कृपा के रूप में प्राप्त हुए उपदेशों का पालन - व्यवहारिक रूप में - करते जाने से निरंतर आत्मिक प्रगति होती जाएगी । बस आवश्यक है तो अपनी ही लगन और तत्परता की, गुरु कृपा तो निरंतर हो ही रही है । गुरुदेव सबका कल्याण करें ।

सदगुरु का सम्मान एवं सेवा

सफलता का सबसे सरल साधन

हमने अपने आप को जिसके चरणों में बेचा है (गुरु धारण किया है) कोशिश करे कि उसका अत्यंत आदर से, मन वचन और कर्म से सम्मान करें, श्रद्धापूर्वक उसकी सेवा करें । हमारे यहाँ यही रास्ता है प्रेम का । यदि हम और कुछ विशेष न भी कर पाए तो उसके साथ अगर मगर न करें । कम से कम इतना तो करें । हम वो भी नहीं करते हैं । कुछ और करने का क्या मतलब है ? गुरु को हृदय में बसाना, उसके गुणों का अनुसरण करना है, उसकी सेवा करनी है । उसकी सेवा क्या है ? वह क्या चाहता है, आप खुश रहें, प्रसन्न रहे, आनंदमय रहें । यह कैसे हो ?

गुरु कहता है कि शास्त्रों का अनुसरण करें, धर्म का पालन करें, अच्छे गुणों को अपनाएँ । उसके उपदेश में यही बातें होती हैं । वो अपनी पूजा, अपने शरीर की पूजा या निजी सेवा नहीं कराता । केवल यह चाहता है कि आप किसी प्रकार खुश रहें, आपका जीवन आनंदमय हो । कितना भी दुख आ पड़े किंतु आपके अंदर में धैर्य हो व अंदर में शांति बनी रहे । इसके लिए वो कुछ बातें बताता है जो कोई नई नहीं है, मुश्किल भी नहीं है । गुरु हमारे शास्त्रों में जो सिद्धांत और आदर्श हैं उन्हीं को दोहराता है, और अपने जीवन के व्यवहार द्वारा आपके ऊपर उनकी छाप डालने की कोशिश करता है ।

हाथ पांव की सेवा मामूली सेवा है, पैसे की सेवा भी कोई बड़ी सेवा नहीं है । गुरु की सर्वोत्तम सेवा ये है कि उसके आदेशों और उपदेशों का पालन करें । गुरु कोई उपदेश और आदेश इस प्रकार के नहीं देता है जिसको आप न मान सके । केवल यही उपदेश देता है कि सदाचार को अपनाए, बिना सत्संग, सद्गुणों और सद्व्यवहार के किसी को आंतरिक आनंद नहीं मिलता, यही वो बार बार कहता है ।

जो साधक गुरु की इन बातों पर चलते हैं वह धीरे धीरे गुरु रूप ही हो जाते हैं । यही गुरु शिष्य का योग है, विवाह है । यही उनके चरणों में बिकना और समर्पित हो जाना है और यही परमार्थी के जीवन का लक्ष्य है । बड़ा सरल है परन्तु जितना सरल है उतना ही हम दूर

रहते हैं । हमें कुछ पाने के लिए कोई कठिन बातें बता दें कि सवेरे से रात तक ये करो - वो करो यानि हठयोग या अन्य इस प्रकार की कठोर तपस्या व क्रियाएं बता दें तो वे ऐसी लगती है कि हमने भी कुछ किया है । परन्तु सरल उपदेशों को हम सुनने और मानने के लिए तैयार नहीं होते हैं । यह जीवन बार बार नहीं मिलता । इस जन्म में ही गुरुदेव के बताये हुए ऐसे सरल रास्ते को अपनायें । कोशिश करेंगे तो जैसा मैंने आपसे कहा, इस रास्ते में कोई कठिनाई नहीं है । धर्म का पालन करना है किसी से द्वेष नहीं करना । यदि हो सके तो सबकी सेवा करनी है, कितना आसान है उनका उपदेश । पहले अपना अर्थात स्वस्थ तन-मन की सेवा करो । इस सेवा में परिवार की सेवा भी आ जाती है, परिवार की सेवा करने के पश्चात यदि आपके पास कुछ बच जाता है, तो अपने सगे संबंधियों की सेवा करो । उसके बाद अपने रिश्तेदारों की सेवा करें, फिर समाज की देश की विदेश की । इसमें क्या कठिनाई है ? परिवार में रहकर योग्यता से कुशलता से जीवन व्यतीत करें । पति पत्नी का आपस में प्रेम हो । मां बाप का बच्चों के प्रति स्नेहयुक्त सेवा का भाव हो । बच्चों में माता पिता के प्रति श्रद्धा सहित सेवा का भाव हो । भाइयों में राम लक्ष्मण जैसा प्रेम हो । परिवार में सबका जीवन सुखद हो, सफल हो । इसमें कौन सी बड़ी कठिन बात है जो गुरुदेव ने बताई है । फिर अपने पड़ोस, शहर या देश के किसी क्षेत्र में हो सके तो मानव मात्र की सेवा करने का अवसर प्राप्त करें ।

अपनी सेवा करने में क्या आपत्ति या संकोच है कि सेवा करके अपने आपको खुश रखें । अपने आंतरिक प्रसन्नता के बाद के बाद ही गुरु या परमात्मा की प्रसन्नता प्राप्त होती है । प्रसन्न चित्त के साथ ही मन स्थिर होता है । आपके मन में राग और द्वेष की भावना हो और आप चाहें कि मन स्थिर हो जाए, ये कभी नहीं हो सकता । और जब तक मन स्थिर नहीं होता तब तक किसी भी प्राणी को ईश्वरीय आनंद की अनुभूति नहीं हो सकती । आत्मा का साक्षात्कार, गुरु का वास्तविक दर्शन या आत्मा का परमात्मा से मिलन कैसे होगा ?

कितना सरल रास्ता है कि प्रसन्नता को अपनाइये । पहले स्वयं में, फिर आसपास में, प्रसन्नता रखो । कितनी आसान सी बात है । परन्तु हम करते नहीं क्योंकि इसका महत्व समझते नहीं है । कोशिश करे कि थोड़ी बहुत गुरु की या ईश्वर की याद हर समय बनी रहे । उनका जीवन हमारी आंखों के सामने रहना चाहिए । उनकी रहनी सहनी हमारे अंतर में अंकित होनी चाहिए । तस्वीर का ध्यान स्थूल है इसलिए तस्वीर का ध्यान नहीं बताया जाता । वास्तविक ध्यान यह है कि उनका जीवन, उनके गुण, उनकी आत्म-प्रकाश हमारे भीतर में बस

जाए, हमारे जीवन का रूप बन जाए । इसमें तो किसी तकनीक से साधना करनी आवश्यक नहीं है ।

भले ही हम घंटों बैठ कर अपने मन को एकाग्र करने की कोशिश करें परन्तु यदि हमारे भीतर में प्रभु के, गुरु के गुण उत्पन्न नहीं होते हैं, तो हमारी ऐसी साधना बगुला भक्ति है, यानी जड़ समाधि है । बगुला मछली के इंतजार में बैठ जाता है, उसका मन खूब लगता है, तो क्या बगुला हंस बन जाता है ? कभी नहीं । इसका कोई लाभ नहीं है । किसी महापुरुष के शरीर को देख लेना, किसी मूर्ति को देख लेना, सच्चे दर्शन नहीं हैं । सच्चे दर्शन का मतलब यह है कि परमात्मा की जिस रूप की हम पूजा करते हैं उस महान हस्ती के गुण हमारे रोम रोम में बस जाएं । हमें वैसा बनना है । जब वही गुण हममें समा जायेंगे तो हमारी यही अवस्था सहज हो जाएगी । यही सच्चा दर्शन है ।

कौन नहीं चाहेगा कि उसके भीतर में शांति हो, आनंद हो स्थायी सुख हो । ये तभी हो सकता है जब हम सद्गुणों और सद विचारों को अपनाएं एवं उन्हें अपने व्यवहार में विकसित करें । यदि साधना करते हैं और और व्यवहार में लड़ते झगड़ते हैं तो साधना कहाँ रही ? वास्तविक साधना तो हमारा व्यवहार है । ये सबेरे शाम जो पूजा पर बैठते हैं ये तो शक्ति पूजा है, माँ की पूजा है ।

हमारी दिनचर्या यदि सुखकारी नहीं है, हमारे व्यवहार से दूसरों को सुख नही मिलता या उस व्यवहार से हमें या घर वालों को ही सुख नहीं मिलता तो हम साधना किस लिए करते हैं ? अपने आप को धोखा दे रहे हैं । तभी तो देखने वाले लोग हमारी निंदा या आलोचना करने लगते हैं कि ये कैसी साधना है ? ये वैसे तो सत्संगी साधक या संत बने हुए है पर इनका व्यवहार कैसा है ? उनका इस प्रकार का सोचना या कहना ठीक है ।

इस विषय में कबीर साहब ने तो यहां तक कहा है कि -

“निंदक नियरे राखिए, आंगन कुटी छवाय”

यानी जो हमारी निंदा करें उसको अपने आंगन में बिठाओ । एक तरह के जो हमारे अवगुणों को जताता है, सचमुच हमारा हितैषी है । उसकी बातों का कभी बुरा नहीं मानना चाहिए । जो साधक या सच्चे जिज्ञासु इस रास्ते पर चल रहे है, उनको चाहिए कि यदि कोई निंदा करता है (निंदा का मतलब हमारी कोई कमी या कमजोरी या कोई बुराई बतलाता है) तो

देखें कि यदि उस बुराई या दोष के बारे में वह ठीक कहता है तो कोशिश करनी चाहिए कि हम उस बुराई को दूर करें और यदि वह अकारण ही हमारी आलोचना करता है तो प्रभु से प्रार्थना ध करें कि "हे प्रभु, इस पर कृपा करो" । इसके कहने का बुरा नहीं मानना चाहिए ।

पूज्य गुरुदेव का तो यही कहना रहा है कि हमेशा अपने आपको दोषी समझो । परिवार में कोई भी सदस्य गलती करता है तो परिवार का जो मुखिया है उसको यही सोचना चाहिए कि यह सब मेरे ही दोष के कारण है । यदि कोई बच्चा गलती करता है तो पिता की कमजोरी से गलती करता है । पिता को सोचना चाहिए कि मुझमें क्या त्रुटी है जो बच्चे ने ऐसी बात की । यह बच्चा क्यों नहीं पढता, क्यों झूठ बोलता है, क्यों जवाब देता है, सड़कों पर घूमता फिरता है आदि । ऐसी दशा में उनके मूल कारणों पर विचार करके इसकी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेनी चाहिए । हम बच्चों को प्रभावित अपने जीवन से कर सकते हैं । परिवार में अपने व्यवहार से हम अपनी छाप लगा सकते है । इसी तरह संसार में भी अपने सद्‌गुणों और अच्छे व्यवहार से ही हम दूसरे को प्रभावित कर सकते हैं । केवल उंचे उंचे आदर्शों की बातों को सुनने के लिए कोई तैयार नहीं है । प्रत्येक व्यक्ति आपके गुणों और व्यवहार को देखता है । यदि व्यवहार आदर्श होगा तो संसार आपके पीछे पीछे चलेगा ।

एक बात का ध्यान और रहे कि समाज में सत्संग लोगों को तो और भी बडे बारीकी से देखा जाता है । यह एक प्रकार की चेतावनी या चुनौती भी है । अत: विशेष सावधानी बरतें । सारांश यही है कि हम अपने आचरण को शुद्ध और पवित्र करें । अपने व्यवहार को ही पूजा का रूप बना दे और व्यवहार द्‌वारा ही अपने परिवार को भी प्रेममय, शांतिपूर्ण व मंगलमय बनाएं । फिर हो सके तो संसार को भी खुशी देने का प्रयत्न करें । सद्‌गुणों और सदाचार से प्रसूत इस प्रसन्नता को बढ़ाने और प्रदान करने की सेवा द्‌वारा प्रभु चरणों में पहुंचने का साधन अभ्यास करें । गुरुदेव आप सब को शक्ति दे कि आप उनके बतलाए हुए अत्यंत सहज मार्ग पर चलकर अपनी मंजिल पा सके ।

गुरु के आदर्श का ध्वज फहराते बढ़ते चले

गुरुदेव फरमाया करते थे कि 'गुरु हमारे जीवन का आदर्श का निशान है' (प्रतीक है) । हम क्या बनना चाहते हैं, उस रास्ते पर ले जाने वाला गुरु कहलाता है । जीवन में सुख-दुःख आते ही है, ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जिसको दुख न आते हो । हमेशा आत्मा सुखी रहती हो या दुखी - ऐसा नहीं है । यह संसार है । दुःख-सुख की माया का नाम ही संसार है । सुख की बात तो छोडो, प्रतिकूल बातें जब होती है तो उसका वक्त शिष्य को क्या करना चाहिए । उस समय शिष्य को अपने गुरु को स्मरण कर के सोचना चाहिए कि वे इस हांल में मुझे क्या आदेश देते ताकि मैं उसी तरह दुःख संकट के बंधनों से मुक्त होने की कोशिश करूँ । उनका जीवन और उपदेश ही शिष्य के लिए मार्गदर्शन करने वाला होता है ।

केवल नाम से ही कह देना कि मैंने गुरु कर लिया है, वह काफी नहीं है । गुरु ईश्वर का प्रतीक है - ईश्वरमय होता है । हमें भी अपने जीवन को गुरुमय बनाना है । गुरुदेव यह भी फरमाया करते थे कि 'जैसे माँ बाप लड़की का विवाह, योग्य वर के साथ करा देते हैं, और खुद पीछे हट जाते हैं, ऐसे ही गुरु भी जब देख लेता है कि शिष्य काबिल हो गया है तो स्वयं पीछे हट जाते है' । शिष्य को हमेशा-हमेशा के लिए गुलाम या सेवक नहीं बनाते । ठीक है कि मधुर संबंध तो बने रहते हैं, परन्तु हमेशा के लिए अपना सेवक नहीं बनाए रखते हैं ।

जीवन में बहुत सी चुनौतियां आती है । गुरुजन भी देखते हैं कि उनके सेवक उन चुनौतियों की कठिन घडी में कैसे उन चुनौतियों में संघर्ष करके सफल होते हैं, कैसे अप्रभावित रहते हैं । गुरु धारण किया था कि जीवन में दुख सुख आए तो उन दोनों दशाओं में हमारा मन विचलित न हों । विचलित मन, ईश्वर के चरणों तक नहीं पहुंच सकता है । गुरु इसलिए किया जाता है कि हमारा मन कहीं भी कष्ट-संकट में या सुख-आनंद की स्थिति में कभी विचलित या डांवाडोल न हो ।

गुरु केवल शरीर में ही नहीं अपितु गुरु की आत्मा और गुरु के गुण ही हमारे गुरु हैं । इसलिए प्रत्येक भाई बहन से मेरा निवेदन है कि साधना को बड़ी महत्ता दें, अधिक गंभीरता से ले । वास्तविकता जानना यह है कि हमें जीवन को कैसे सफल बनाना है ? अर्थात किस प्रकार इस मन को माया की जंजीरों से मुक्त कराकर आत्मा में विलय करना है । यहां परमात्मा के

चरणों में लीन करना है - ज्ञानियों की भाषा में, चिरंतन आत्मिक सुख या मोक्ष की प्राप्ति करनी है ।

आंतरिक आनंद की अनुभूति तभी होगी जब हम मन के दोनों रूपों सुख और दुःख से मुक्त हो जाएंगे । दुःख संस्कारों के बंधन में बांधता है और सुख, दुख से भी अधिक बांधता है । हम लोग दुःख से तो मुक्त होना चाहते हैं पर सुख को नहीं छोड़ना चाहते । बात विचित्र लगती है पर सत्य है । दुःख दारू सुख रोग है । संतों ने चेताया है कि दुख एक औषधि है, वह परमात्मा की देन है ।

गुरुदेव सुख को छोड़ देने की बात कहा करते थे । कभी कभी वे शायरों की भाषा में यह भी गुनगुनाते थे कि "तेरे मैं कुर्बान जिसने दर्द पैदा कर दिया - या जिसने दिया है दर्दे दिल, उसका खुदा भला करें" । दुःख की अवस्था में प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए कि वह हमें इतनी शक्ति दे ताकि हम दुःख को सहन कर सके । जब कष्ट थोड़ा सा आए तो जैसे थोड़ा-थोड़ा काँटा चुभता है, वह साधक के हित में है । इसे ढंग से निकालाना चाहिए और दुःख की घड़ियाँ भी धैर्य से काट देनी चाहिए ।

पर अधिक बंधन का कारण है - 'सुख' जिसको पाते हुए, हम सोचते रहते हैं कि हमारा मकान बन जाएगा, बच्चों की शादी हो जाएगी, बच्चों की नौकरी लग जाएगी - बस हम सुख से रहेंगे । पर धीरे धीरे यह बंधन और बढ़ते चले जाते हैं । ठीक है सुख होना चाहिए परंतु इतना नहीं, जिसके नशे में हम अपने जीवन के लक्ष्य को भूल जाए, अपने गुरु को भूल जाएँ, अपने प्यारे राम को या अपने असल को भूल जाएं । ऐसा सुख किस काम का ?

और यह बात हम रोज भूलते हैं । जरा अपनी डायरी दो दिन लिख कर के देखें, कितने बातें हम दिन में भूल जाते हैं । और सबसे बड़ी बात सत्संगियों के लिए यह है कि परमात्मा से, उसकी याद से जुदा होना, सबसे बड़ा दुःख है । हम रोज देखते हैं कि इंद्रियों के रस में हम इतना फंस जाते है कि हमारे साधन ही नहीं हो पाता है, ईश्वर की याद भी नहीं रहती है । ये इंद्रियों के जप रस है वो ईश्वर से भी ज्यादा सरस और आनंददायक मालूम होते हैं ।

काम देव ने तो एक बार भगवान शिव की परीक्षा ली लेकिन वह हमारी परीक्षा तो हर दम लेता रहता है । जबान के स्वाद या बोलने का रस लेते है या कभी-कभी भला बुरा सुनने में खो जाते हैं । आँखों से देख-देख कर दुःख-सुख महसूस करते हैं तो कभी कानों से मधुर संगीत

सुनते हैं । काम देवता भी तो हमारी परीक्षा लेता रहता हैं । और इन इंद्रियों के द्वारा काम या कामना अर्थात संसारिक इच्छाओं के ही मायाजाल में फंस जाते हैं । इस तरह से यह सब इन्द्रियाँ तो मनुष्य का सारा ध्यान अपने ही आकर्षणों की ओर लगाए रहती है । हम कभी इस तरह नहीं सोचते कि गुरु की आज्ञा तो सदा सतर्क रहने की, सचेत रहने की है । संत महापुरुष ठीक कहते हैं कि गृहस्थ-जीवन बड़ा अच्छा है और संन्यास बहुत कठिन है । इसमें कोई आपत्ति नहीं है, इसमें सच्चाई है । फिर भी गृहस्थाश्रम में जितने प्रलोभन है उतना किसी आश्रम में नहीं है । संन्यास में आपको खाना नहीं मिलेगा, रहने की जगह नहीं मिलेगी, शारीरिक कष्ट बरदाश्त करना होगा, भिक्षा मांगनी होगी आदि भांति-भांति के अभाव सहने होंगे । किन्तु गृहस्थ आश्रम में चारों ओर ही पग-पग पर समस्याएं और प्रलोभन है । उन सब से ऊपर उठकर व्यक्ति राजा जनक की तरह बचा रहे सो बहुत कठिन है ।

हम महाराज जनक की स्तुति करते हैं उनके आदर्श से प्रेरणा लेने के लिए मगर व्यावहारिक जीवन में प्रत्येक क्षण हम गिरते रहते हैं । इसलिए संत कहते हैं कि निरंतर ईश्वर का नाम लेते रहना चाहिए । उसकी ही हुजूरी का भान हमेशा होना चाहिए । उसके प्रति प्रेम का भाव या भय बना रहना चाहिए । उसके गुणों की स्मृति हमेशा बनी रहनी चाहिए । जिस साधक में परमात्मा के प्रीति-प्रतीति नहीं है या कोई भय नहीं है, तो वो दुनिया के आकर्षणों के मजे ले रहा है । हम भी तो प्रातःकाल से रात तक विविध इंद्रियों के रसों में फंसे रहते हैं । हमें भी प्रभु की सत्ता का भान या भय कहाँ ?

विचित्र किन्तु सत्य बात है कि सरकार से तो हम डरते हैं, कानून के विरुद्ध काम नहीं करते हैं, परन्तु मन से जो बुराइयां करते रहते हैं उसकी ओर हमारा ध्यान नहीं है, जबकि कहीं अधिक पाप, सहस्र गुणा अधिक, मन से करते हैं और वह इसलिए कि हमें भय नहीं है । पर इसका बदला हमें चुकाना पड़ेगा । बाहरी हुकुमत का तो भय है पर भीतरी 'मालिक' से कोई भय नहीं । ईश्वर जो हमारे भीतर में हरदम मौजूद है, सब जानता है, तो भी चौबीस घंटे राग-द्वेष, ईर्ष्या लोभ की बातें करते हैं । इसका फल भी मिलेगा और भोगना ही होगा ।

हमारे यहाँ जो मौन साधना करते हैं वह तो मानो प्राथमिक अक्षर-बोध के समान ज्ञान है । इस विद्या की पहली कक्षा है कि मन को स्थिर कैसे करें ? यही न होगा तो संसार के व्यवहार-व्यापार में कैसे स्थिर होगा । इसके लिए अधिकाधिक समय परमात्मा के या महापुरुषों

के गुणों का - उन्होंने अपना जीवन कैसे व्यतीत किया, उनकी जीवन लीला का आदर्श और स्वरूप क्या था - आदि का स्मरण करना चाहिए ।

इसलिए मैं बार बार कहा करता हूं कि सभी सदग्रंथों का पाठ करते रहना चाहिए - रामायण है, गीता है, ग्रंथ साहिब है, कुरान शरीफ आदि हैं । हमारे यहां कोई भेदभाव नहीं है । हम सब की पूजा करते हैं, उससे हमें बल मिलता है । रामायण आदि धार्मिक पुस्तकें पढ़ने का अर्थ है कि भगवान राम ने अपने जीवन कैसे व्यतीत किया, उनके सांसारिक और आत्मिक लीला का पठन-पाठन करके चिंतन और मनन करना चाहिए ।

दशहरा के दिन, देशभर में प्रति वर्ष, रावण को प्रतीक पापों का बनाकर उसके अहंकार रूपी पुतले जलाया करते हैं, को जलाएंगे मगर हम कभी यह कोशिश नहीं करते कि हम भी अपने अहंकार रूपी राक्षस को जला दें । यह त्योहार सिर्फ एक मेला जैसे बन गया है, गंभीरता नहीं रही है । भगवान के प्रति श्रद्धा कहाँ है और कितनी रही है । अगर उनके प्रति श्रद्धा है तो उनका जीवन हमारे रोम रोम में बस जाना चाहिए । जिस महापुरुष के प्रति श्रद्धा है उसकी लीला को देखें न या याद करें तो मन में खुशी और शांति कैसे नहीं आएगी, मन क्यों नहीं लगेगा ?

गुरु इसलिए किया जाता है कि उनके आदेश-उपदेश का पालन करें । उनके गुणों को, आदर्शों को जीवन में उतारें । गुरु महाराज कहा करते थे कि - "अब तो जैसे शिष्य हैं वैसे गुरु है ।" अब न विवेकानंद जैसे शिष्य है न रामकृष्ण परमहंस जैसे गुरु हैं । हमारे चाचा जी महाराज (महात्मा रघुवर दयाल जी) कहा करते थे -

"झुट्ठल खेले सब कोई - सच्चल खेले बिरला कोई"

वे तो यही कहा करते थे कि एक समय ऐसा भी आ जाएगा कि झूठा खेल खेलते-खेलते हुए भी एक दिन सच्चा हो जाएगा । पर यह अध्यात्मिक खेल खेलें तो सही । साधक को कभी घबराना नहीं चाहिए । चले चलो चाहे झूठा हीं खेल हो, झूठे की परवाह मत करो । बच्चों की तरह खेल खेलते ही रहो, प्रयास करते ही रहो । पर यह भी सत्य है कि जो आदर्श गुरु हम चाहते हैं वैसा आज कल के समय में मिलता नहीं है ।

गुरु महाराज बारंबार कहा करते थे कि अच्छा गुरु हजार वर्षों में एक आता है । जो आदर्श को, जिसने भी उसके आगे समर्पण किया - यह विभूतियाँ ऐसी शक्ति और आदर्श, गुणों

वाली होती है कि अपने जीवन के माध्यम से दुनिया को दिखाता है । सब उद्धार करा दिया करती है ।

विश्व भर के राजाओं के राज्य के अपने अपने विशेष प्रतीक चिन्ह और ध्वज होते हैं । ध्वज के लिए लोग अपनी जान दे देते हैं । उस आदर्श निशान की रक्षा और सम्मान के लिए अपने जीवन का बलिदान तक दे दिया जाता है । इसी तरह जीवन के आदर्श को भी बहुत महत्व देना चाहिए और अपने आदर्शों के लिए जीवन की बाजी लगा कर मन से, वाणी से तथा व्यवहार से (चरित्र से) अपने जीवन को आदर्शमय बनाएँ ।

और यह तभी संभव होगा जब हम महापुरुषों की जीवनियों को गंभीरता से अध्ययन करेंगे । फिर उनके गुणों को विशेषताओं को चिंतन मनन करके, उनके पद चिन्हों पर चलने का, उनके जैसा बनने का प्रयास करेंगे । चुनौतियां तो रोज ही आती रहेगी, बाधाएं भी आती रहेंगी, जैसे कवि की भाषा मे है -

“संकट तो आते रहेंगे, इससे न कोई बचा है ।
हर कामयाबी का किस्सा, कुर्बानियों ने रचा है” ।

हमारे जीवन की यात्रा भी तभी सफल कहलाएगी जब हम अपने आदर्श के ध्वज को जो कि गुरुदेव द्वारा निर्देशित सिद्धांतों का प्रतीक है - उसका महत्व समझ कर ऊंचा उठाए हुए, परमार्थ के पथ पर अग्रसर होते जाएंगे ।

गुरुदेव सबका कल्याण करें ।

सत्संग का अभिप्राय है

गुरु (प्रभु) की समर्पित सेवा

हमारे यहां सत्संग का मतलब यह नहीं कि कोई सामाजिक संस्था या पार्टी बना ली गई । यहां सत्संग के अर्थ है कि आपने अपना तन-मन-धन किसी को (गुरु को) समर्पित कर दिया - अपने आप को उनके चरणों में अर्पण कर दिया और उस व्यक्ति ने आपको अपना लिया और अपने गले लगा लिया । यह नहीं समझना चाहिए कि हम फलां संस्था के मेंबर हैं । यहां सत्संग का लक्ष्य कोई Registered Body या संस्था बनाना नहीं है । यहाँ तो संत और जिज्ञासु का संबंध स्थापित करना सत्संग का अर्थ है । सत्संग के सदस्य होने का अर्थ है कि जिज्ञासु को खोजने पर कोई सच्चा संत मिले जो कि बड़ा कठिन है । कोई संत मिल जाए और उसकी कृपा हो जाए तो सत्संग का लाभ है । और जब संत की कृपा भी हो मगर हम कृपा का लाभ नहीं उठा पाए तो दोष हमारा है ।

हमारी संस्कृति में एक मान्यता चली आ रही है कि जिसने नाम नहीं लिया है वो परलोक में जा हीं नही सकता । इस संबंध में एक ऐतिहासिक दृष्टांत प्रसिद्ध है । सिख पातशाही के तीसरे गुरु, गुरु अमर दास जी बड़े ईश्वर प्रेमी थे । प्रत्येक वर्ष हरिद्वार जाया करते थे । पहले गंगा जी के स्नान का बहुत महत्व था । गाड़ियां नहीं हुआ करती थी, मोटरें नही थी । लोग पैदल या बैलगाड़ियों में बड़ी कठिनाई से जाया करते थे । एक बार अमरदास जी हरिद्वार में गंगा जी के तट पर पहुंचे हैं । लेटे हुए हैं तो किसी अच्छे साधु ने उनके चरणों को देखा कि इनके चरणों में तो प्रकाश की चमक है । बातचीत की है और फिर मित्रता हो गई है गुरु अमरदास जी से । अपने घर वापस लौटे तो अमरदास जी के साथ वो संत आ गया है । तब उसने बातों बातों में पूछा कि आपके गुरु कौन हैं ? गुरु अमरदास जी कोई ७० वर्ष के हो गए थे पर अभी तक गुरु धारण नहीं किया था । अमर दास जी कहने लगे - "मैंने तो अभी तक किसी से दीक्षा नहीं ली है" तो संन्यासी घबड़ा उठा और कह उठता है - "मेरा तो पतन हो गया, मैंने तो निगुरे को का भोजन खा लिया है अतएव मैं तो पापी हो गया" । पुन: हरिद्वार जाऊंगा, स्नान करूँगा, और पवित्र होऊँगा" ।

अमरदास जी को भी ख्याल है कि मेरी आयु ७० वर्ष की हो गई और मुझे अभी तक कोई गुरु नहीं मिला । "संत मिले कोउ बड़ भागी" । ये ईश्वर की कृपा है कि कोई महापुरुष

मिल जाता है । महापुरुष क्या मिलता है, परमात्मा स्वयं मिल जाता है । उसी का संग करना सत्संग है । अमरदास जी संसार से उदासीन हो गए क्योंकि उनका मित्र चला गया ।

घर में एक बहू प्रतिदिन सुबह-सुबह भजन पढती थी जो उन्हें अच्छे लगते थे । आकर्षण हुआ तो बहु से पूछने पर कि ये किसकी वाणी है उसने कहा कि "मैं गुरु नानक देव जी जो मेरे पिताजी के गुरु थे, उनकी वाणी पढ़ती हूँ, इससे मुझे बड़ा सुख मिलता है" । अमरदास जी को बहुत कुछ शब्द बड़े ही प्रभावशाली लगे हैं । मन में उत्सुकता हुई कि वे जाकर बहु के पिताजी से मिले ।

हमारे समाज में यदि लड़की ससुराल में आ गई तो जब तक माता पिता बुलाए नहीं, वो अपने माता-पिता के घर नहीं जाती । ससुर कह रहे हैं कि तू मेरे साथ चल अपने माता पिता के पास परन्तु बहु मना करती है कि मैं तो ऐसे नहीं जाउंगी । अमरदास जी के फिर से आग्रह करने पर बात माननी पड़ी और लड़की अपने पिता के पास उनको ले जाती है । अपने संबंधी के पास पहुंच कर सारी गाथा सुनाई कि कैसे एक योगी ने उनको 'निगुरा' (अर्थात जिसने सच्चे संत-सतगुरु की शरण नहीं ली हो) कहा । यह बात भी बहुत बुरी समझी जाती थी । फिर गुरु नानक जी जैसे समधी उनके अपनी आयु से भी छोटे है उनसे प्रार्थना की है, कि वे उनको शरण में लें । हमारे समाज में प्रचलित ये अहंकार भाव रहता है कि जिनकी लड़की ली हुई होती है, लड़के वाले उनके यहां जाते नहीं है और जाता भी है तो बड़े रॉब दब-दबे से । परन्तु आपने नि:संकोच प्रार्थना की है कि वो उनको अपनी शरण में ले ले ।

उस योगी मित्र का निराश होना पुत्र-वधु से पवित्र वाणी सुनना, भीतर से प्रेरणा उठना, और जहां अहंकार की प्रदर्शनी होती है वहां दीनता की भावना दिखाना आदि - ये सब प्रभु कृपा थी । अंगद देव जी (गुरु नानक देव जी के उत्तराधिकारी) ने प्रार्थना स्वीकार करके उन्हें अपनी सेवा में ले लिया है पर उनको अभी नाम नहीं दिया है, दीक्षा नहीं दी है ।

अमर दास जी भी बडी लगन से दस बारह वर्ष सेवा करते रहे । गुरु अंगद देव जी के अंगूठे में कैंसर था, अमरदास ही उनके अंगूठे को रात को चूसा करते थे ताकि उनको नींद आ जाये । उल्टे पांव जाया करते थे सुबह पानी लेने ताकि उनका मुख गुरु के चरणों की तरफ ही रहे । पहले सड़क नहीं होती थी पर इन्हें ये चिंता नहीं थी कि कहीं गड्ढे में न गिर जाये । रोज पानी लाकर गुरु को स्नान कराते थे ।

ईश्वर कृपा कैसे प्राप्त होती है इसका ऐसा ही एक और उदाहरण स्मरण आता है । शेख फरीद जी भी, हजरत मोनुद्दीन चिश्ती, अजमेर वालो को सुबह सुबह इसी तरह स्नान कराया करते थे । सच्चे गुरु ऐसे ही नहीं मिल जाते - बड़ी सेवा करनी पड़ती है । एक दिन अमरदास जी पानी ला रहे थे, अंधेरा था तो गड्ढे में गिर गए । वहीं पास के घर में एक पति पत्नि आपस में बात करते हैं कि किस चीज की आवाज आयी । पति कहता है कि "और कौन होगा वो अमरू ही होगा, जो गड्ढे में गिर गया है, उसकी ही आवाज हुई है । वो तो पागल हो गया है ।" सुबह हुई तो पति-पत्नी गुरु महाराज की शरण में आए हैं और अपनी अभद्र टिप्पणी की क्षमा मांगी है । संत दयालु होते हैं, उनको तो क्षमा किया है, परन्तु अमरु को ८०-८२ साल की उम्र में, उसी वक्त अपना उत्तराधिकारी घोषित करके 'गुरु अमरदास जी' बना दिया है ।

इस प्रकार का कोई संत मिल जाए तो अनन्य भाव से उसकी सेवा करनी चाहिए । सेवा ही उसका सत्संग है और सेवा उसके कहने पर चलना ; चु चड़ाक नहीं करना ; अपने मन को उसके मन से मिला देना और उसके पास केवल बैठकर यथायोग्य कुछ बातें सीखनी है । सत्संग का मतलब कोई भाषण सुनना नहीं है । हमारी भाषा मौन की है । हमारे यहां बोलना नहीं है ।

हमारे यहां सत्संग है - गुरु से निकटता-समीपता-हाजरी यानी तन और मन की समीपता । जैसे सूर्य के बाद बैठे सूर्य के उष्मा मिलती है, इसी तरह सच्चे संत या गुरु के पास आदर व दीनता के साथ बैठने से शक्ति मिलती है । और वो संत क्या चाहता है ? उसके व्यवहार से पता चलता है कि वो अपने लिए कुछ नहीं चाहता । वह तो यही चाहता है कि आपको सुख मिले,शिष्य मानसिक तौर पर खुश रहे, शारीरिक और आर्थिक तौर पर भी खुश रहे । ऐसी हितकारी हार्दिक इच्छा होती है उसकी, परन्तु वो ज्यादा बोला नहीं करता ।

सत्संग का मतलब किसी धार्मिक संस्था की सदस्यता से नहीं, सत्संग का ध्येय है ईश्वर कृपा से आपको यदि कोई महापुरुष ईश्वर की तरह मिल गया है तो आपको उसके चरणों की अरदास बन जाना है । अपना तन, मन, धन बेचना है । हमारी भारत की संस्कृति को गौरव है कि स्त्री की जो भारतीय छवि है, वह जिज्ञासु को प्रेरणा देती हैं ।

दुर्भाग्य की बात है कि आजकल स्त्री अपने गुणों को छोड़कर, मोड (Mod) आधुनिक बनने की होड़ में लग रही है और संस्कृति दिन पर दिन पतित होती जा रही है । नतीजा क्या है ? आज पुरुषों की भी वही दुर्दशा है जो स्त्रियों की है । पुरुष औरतों से ज्यादा प्रेरणा लेते थे । औरत ही प्रेरणा देती थी पुरुष को कि किस तरह जाकर वो अपने गुरु की सेवा करें । पूज्य

गुरुदेव यहीं फरमाते हैं अपने सुन्दर प्रवचनों में, परंतु इनकी भावना, गहराई को, शब्दों तक मत लीजिये, इसकी गहराई को समझे ।

गुरु महाराज मुझे हमेशा अपने साथ ले जाया करते थे । मैं पहली दफा ग्वालियर गया, वहां सत्संग हुआ । इस प्रकार सब भाई गुरु के इर्द-गिर्द बैठ जाते है, घंटा आधा घंटा, कोई एक भजन हुआ या प्रार्थना हुई फिर मौन साधन होता है । हमारे सत्संग करने को 'मराकबा' कहते हैं । मुझे कह दिया गया है कि मैं बाहर बैठूं । मैं नया नया था, सो अंदर नहीं बिठाया । मुझे बड़ा दुःख हुआ, एक तो अपने साथ लाये और मुझे अपने साथ नहीं बिठाया । क्योंकि मुझे इस प्रणाली का पता नहीं था ।

हमारे यहां सत्संग मौन का है और मौन में ही आदान-प्रदान होता है और कुछ पूछा माँगा नहीं जाता । गुरुवाणी में भी लिखा हुआ है कि "शिष्य को शरीर प्राण , मन बुद्धि, आनन्द यहाँ तक कि सब कुछ इष्टदेव के चरणों में अर्पण कर देना चाहिए और कोई अभिलाषा इच्छा नहीं रखनी चाहिए" ।

यह स्वाभाविक है, सहज और प्राकृतिक भी है कि यदि आप सूर्य के पास धूप में दो चार मिनट बैठ जाए तो सूर्य ऊष्मा आपके शरीर में अनुभव हो जाएगी । इसी प्रकार संत के पास यदि आपकी स्थिर तन और शांत मन से बैठते हैं तो आपको अवश्य कुछ प्राप्ति होगी । सरलता से, शरीर से, इस तरह बैठना चाहिए जैसे कपड़ा टंगा हो खूंटी पर - अपने होने का तो शरीर में रहे ही नहीं । तब देखिए कि संत के हृदय से भी आत्मिक शक्ति की रश्मियां आपके शरीर में प्रवेश करेंगी । और वो तो करेगी ही साथ ही ईश्वर की कृपा भी आपको प्राप्त होगी । इस प्रकार किसी संत सद्गुरु का किसी ऐसे सच्चे व्यक्ति का सच्चाई का संग करने को 'सत्संग' कहते हैं । इसलिए मैं कहा करता हूँ कि ऐसे संत की उपस्थिति में तो केवल दीन भाव से जाकर शांत बैठे रहे ।

सत्संग का ये लाभ भी होता है कि आपका बाहर का शरीर भी स्वस्थ, निर्मल होता चला जाता है । सही ढंग से यदि साधना करें तो कोई बीमारी नजदीक नहीं आ सकती । यदि इसके साथ अपने खाने पीने का संतुलन तथा रहने सहने का थोड़ा भी ध्यान रखे तो विश्वास मानिए कोई भी व्यक्ति बीमार नहीं होगा । और आंतरिक बीमारियां भी - चाहे शारीरिक हो, मानसिक हो वो भी दूर हो जाती है । सबसे अधिक लाभ यह है कि इस प्रकार के साधन से आत्मा की रश्मियाँ को ग्रहण करके धीरे धीरे आप भी आत्म रूप हो जाएंगे । अर्थात आपके

ऊपर जो आवरण पड़े है, शरीर, प्राण, मन, बुद्धि, और आनंद के, वो सब अलग होकर आत्ममय हो जाएंगे । आत्मा में और इन पर्दों में कोई अंतर नहीं रहेगा । यही साधना की चरम स्थिति है । सिद्ध पुरुष यदि चाहे तो हजारो वर्ष की जा सकती है, जैसे हमारे ऋषि मुनि सुने जाते हैं ।

साधना यही है कि अपने आप को संवेदनशील बना दीजिये । फिर कोई कठिनाई नहीं रहती । यदि आप उस सतपुरुष के चरणों में समर्पित हो जाए । बस उसकी सेवा करनी है, उसके कहने में रहना है, मन को बेचना है - "मन बेचे सतगुरु के पास" । हमसे बिकता नहीं है । मैं नहीं बेच पाया । इसीलिए मैं आपको, भाइयों को कुछ नहीं कहता, चुप कर के हँस देता हूँ । परंतु वास्तविकता यही है । सत्संग के सच्चे अर्थों को समझे ।

समय हमने बहुत खो दिया है पर कोई बात नहीं, अब भी होश में आ सकते है । ये प्रसाद लेना, खाना-पीना सब फिजूल की बातें हैं । व्यक्ति का खाना-पीना बहुत मामूली सा होना चाहिए । खाना जितना सूक्ष्म होगा उतना ही उसका शरीर, मन, बुद्धि, सम्वेदनशील होंगे । हाँ अपने व्यवसाय के अनुसार खाना चाहिए । यदि मेहनत का काम करते हैं तो खाना पौष्टिक और पूरा खाना चाहिए । अनाज खाना चाहिए, अनाज नहीं छोड़ना चाहिए । यदि दिमागी काम करते हैं और आपके ऊपर कोई बोझ नहीं है तो बहुत से हल्का खाना खाना चाहिए, वह भी बहुत कम । अभ्यासी को सुक्ष्म सादा भोजन करना और इसके अतिरिक्त कम बोलना चाहिए - बाहर का भी और भीतर का भी ।

ईश्वर की प्राप्ति, जीवन का मुख्य लक्ष्य है जो कि प्रतिक्षण सामने होना चाहिए । यह अनमोल निधि गुरु के द्वारा जल्दी मिल जाती है । किंतु गुरु के द्वारा तभी प्राप्त कर सकेंगे जबकि पूर्ण समर्पण भाव से उनकी सच्ची सेवा करें और उनकी संत वाणी के अनुसार अपना आचरण बना ले । सत्संग में आए, सबसे मिले-बोले और चले गए तो कुछ नहीं होगा ।

हमें गुरुदेव जैसे सिद्ध समर्थ संत के सानिध्य, संगति और सेवा में रहने का तो सौभाग्य मिला, किन्तु अपना आचरण वैसा न बना पाए जैसा कि वे चाहते थे । समय चेतावनी दे रहाहैं अतएव अब तो बिना एक पल गंवाए उसी धुन में लगे और अपना कल्याण करें ।

जीवन का लक्ष्य पाने के लिए हमारा प्रयास गंभीर हो

गुरु महाराज पुराने भाइयों को कुछ बातें विशेषकर बताते रहे है, उनकी अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए । बहुत सारे भाई-बहन यह कहते हैं कि हमने नाम तो लिया परंतु हमारे स्वभाव में कोई परिवर्तन नहीं आया ; कोई आनन्द नहीं मिलता ; जो हमारी इच्छाएं हैं उनकी पूर्ति नहीं होती । अधिकांश भाई बहन ये चाहते हैं कि उनका मन जो इच्छायें उठाता चला जाये उसकी पूर्ति होती रहे । यह उनकी गलती है । यहां आकर तो यज्ञ में आहुति देनी पड़ती है । ईश्वर का मिलना या अपने आप को पहचानना इतना सरल नहीं है जितना हम समझ लेते हैं । पूरे जीवन की आहुति देनी पड़ती है । आनंद तो पर्दों में ढंका हुआ है । आपके भीतर में ही भंडार है ।

प्रथम बात गुरु महाराज बता रहे हैं, वह यह है कि आप आत्मा है - वही है जो परमात्मा है, आप उसी के अंश है - आनंद का भंडार है । हमेशा-हमेशा का जो जीवन है वो आपके भीतर में है । सत्यता और सर्वोत्तम ज्ञान-आत्मा का ज्ञान आपके भीतर में हैं । मगर प्राप्त वो कब होगा ? काफी समय हो गया सत्संग में आए हुए, अब हमे सावधान होना चाहिए । मृत्यु का पता नहीं है वो किस वक्त हमारे पास आ जाए ।यह शारीर छोड़ने से पहले हमें शरीर का मोह त्यागना है । पांच प्रकार के शरीर या आवरण है जो हमारे सच्चे स्वरूप - परमात्मा - से योग नहीं होने, सच्चा आनन्द प्राप्त नहीं होने देते । सबकुछ हमारे भीतर है और हम उसका अनुभव नहीं कर पाते है ।

<u>आत्मा को घेरने वाले पांच पर्दे या आवरण है जिनमें पहला शरीर का है</u> । बहुधा व्यक्ति यही समझता है कि मैं शरीर हूँ । परन्तु आप केवल शरीर नहीं है, आप तो आत्मा है । इस शरीर के साथ जो मोह है उसको त्यागना है, इससे मुक्ति पानी है । यह तो रहेगा ही यहां । पर मन शरीर के साथ बैठा हुआ है । इस शरीर के साथ संबंध तोड़ना है - यही वैराग है ।

जब तक विवेक और बैराग जागरूक नहीं होते है यह कहना कि भक्ति में इनकी जरूरत नहीं है गलत है । यह कहना कि ये केवल ज्ञान योग की बातें हैं, ऐसी बात नहीं है, भक्त को भी अपने ईष्ट की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए सब कुछ न्योछावर करना पड़ता है । और सबसे पहले भक्त जो न्योंछावर करता है वो अपना मन न्योंछावर करता है । शरीर को भी ये

मानकर चलता है कि ये तेरा है । ज्ञानी भी कहता है कि मैं शरीर नहीं हूँ , परन्तु भक्त अर्पण कर देता है, शरीर को । दोनों में विशेष अंतर नहीं है ।

हमारे गुरु महाराज भक्ति ज्ञान और कर्म तीनों को इकट्ठा लेकर चलते थे । भेदभाव नहीं करते थे इन तीनों योगों में । साधना को ये तीन मुख्य रास्ते हैं । रास्ते अन्य भी हैं पर ये तीन मुख्य हैं । पूज्य गुरु महाराज ने इन तीनों को लिया । इसलिए हठ नहीं करना चाहिए कि मैं भक्त हूँ या मैं ज्ञानी हूँ या मैं कर्मयोगी हूं । हम सब तो गृहस्थ में रहते हैं । अतएव इन तीनों ही साधनों को हमें अपनाना है । यही तीन योग भगवान कृष्ण ने अर्जुन को समझायें है । गुरु महाराज ने या अपने इष्टदेव ने जो भी रास्ता आपको बताया है उसको पकड़िये ।उस पर चलिए । हमें अपने असली स्वरूप को न देख पाने का पहला परदा यह शरीर है । हमें बुद्धि से यह समझना चाहिए यह तो नश्वर है । थोड़े समय के लिए रहेगा । फिर अग्नि में जला दिया जाएगा, अस्थि प्रवाह हो जायेगी, परन्तु आत्मा जो आपकस वास्तविक स्वरूप है उसको जलाया नहीं जा सकता सो अपने स्वरूप को पहचानने के लिए इस शरीर से मोह त्याग करके मुक्ति प्राप्त करनी होगी । मोह त्यागना ये समझना है कि शरीर मेरा नहीं है ।

सारा संसार इसी में फंसा हुआ है, कहना तो बड़ा आसान है । ज्ञान या भक्ति की बातें कहने में बड़ी सरल लगती हैं । परन्तु उनको व्यवहार में लाने में बड़ी कठिनाई आती है । कौन कहेगा कि मैं अपने शरीर के साथ मोह छोड़ दूँ - इसको नहलाऊं धुलाऊं नहीं, इसको श्रृंगारु नहीं, इसको कपड़े न पहनाऊं आदि । हम तो चौबीस घंटे इसी को सँवारते रहते हैं । परंतु जब तक इसके साथ आसक्ति है,मोह है, तब तक इसको छोड़ेंगे नहीं । आप भीतर की यात्रा नहीं कर पाएंगे । मानव शरीर के साथ हीं तो नाते-रिश्तेदारों के रूप में, संसार के अन्य शरीरों के साथ हमारे संबंध हैं, जिनमें मनुष्य जकड़ा हुआ है । परन्तु ये जो मोह है, आसक्ति या अज्ञान है, इसको त्यागेंगे, तभी आगे का रास्ता खुलेगा ।

इसे छूटने का उपाय है कि लगन पूर्वक साधना करो । आपको जो गुरु ने बताया है वो करो । उनका बताया रास्ता है कि आप अपने भीतर में जाओ और अपने आप को पहचानो । तो पहला पड़ाव हुआ कि शरीर के साथ मोह त्याग हो । अभी तक हमारे यहां एक भी व्यक्ति नहीं है जिसका शरीर के साथ सम्बन्ध टूट गया हो । सब इसी में फंसे हुए हैं । अभी तक शरीर और मन के बंधन में ही फंसे हुए हैं । सो गुरुदेव यही बता रहे हैं कि आप सत्संग में आये हैं,

दीक्षा ली है तो कुछ बातों को समझ कर गंभीरता से मनन करना चाहिए और अपने आप को शीघ्र पहचानने का प्रयास करना चाहिए ।

पहला चरण या पहला उपाय यह है कि सारे कर्म जो करिये वो ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए करिए । भक्ति में, कर्म योग में, सब में यही चेतना बनी रहे कि यह शरीर भगवान का ही है, मेरा नही । ज्ञान साधना के मार्ग में साधक कहता है कि - "मैं शरीर नहीं हूँ" । वो और आगे चलता है, अपनी सूरत को अंदर ले जाता है । तो पहला चरण है जो बहुत कठिन है - मोह का त्यागना । अपने शरीर और शरीर के साथ यह मेरी धन-दौलत, मकान-दुकान, सन्तान, रिश्तेदार आदि । सब का त्याग करना है किन्तु विवेक-बुद्धि द्वारा, ज्ञान दारा । इसका अर्थ है ईश्वर समझ कर इनकी सेवा करो परन्तु इसमें फंसी नहीं । कर्म करना है और कर्म करके, कर्म और कर्म का फल दोनों हीं ईश्वर के चरणों में, अपनी इष्टदेव के चरणों में अर्पण करना है ।

इसके बाद दूसरा आवरण या पर्दा है, प्राणों का । तीसरा है, मन का और चौथा है बुद्धि का । मन और बुद्धि दोनों की दशा को पहले हम इकट्ठा ले लेते हैं । अधिकांश हमलोग तर्क-वितर्क करते रहते हैं । देखते है, सुनते हैं, शरीर को कुछ न कुछ हरदम महसूस होता रहता है । जैसे कि खाते हैं, पीते हैं, सुनते हैं, सुनने का रस लेते हैं, तो मन उसकी प्रतिक्रिया करने लगता है - यह बड़ा सुन्दर है, वह बड़ा मलिन है, आदि प्रतिक्षण हम प्रतिक्रिया करते रहते हैं । टिकता कोई विचार नहीं, सारा दिन हम नए-पुराने विचार उठाते ही रहते हैं । प्रत्येक विचार प्रतिक्रिया का रूप है । और जब तक प्रतिक्रिया का रूप है या जब तक प्रतिक्रिया होती रहेगी और तब तक भगवान द्वारा अर्जुन को समझाई गई बुद्धि की सम अवस्था कैसे हो सकती है । साधना में जब तक बुद्धि सम अवस्था में नहीं आएगी, भीतर में आनन्द नहीं आ सकता है अर्थात दुःख-सुख हो, भला-बुरा हो, जो भी जो भी ये द्वंद है इनसे मुक्त होकर सम अवस्था आनी चाहिए । इस सम बुद्धि को अपनी आत्मा में या गुरु के चरणों में लय कर दो । गीता के दूसरे अध्याय में शुरू के ४० - ४५ श्लोको तक यही बुद्धि को सम अवस्था में लाने की शिक्षा है । फिर आगे के २० स्थित प्रज्ञ अवस्था में लाने की शिक्षा है । साधारणतया भीतर में (आत्मा के भीतर) मन या बुद्धि प्रवेश नहीं कर सकते जब तक कि यह सम अवस्था में नहीं आ जाएंगे । चंचल मन, चंचल बुद्धि आत्मा के भीतर में प्रवेश कर पाने में बाधक है ।

यही कारण है हम सब दुखी रहते हैं, हमे सुख नहीं मिलता, शांति नहीं मिलती । और उसका कारण स्पष्ट है कि हमारी मन और बुद्धि में स्थिरता या समता नहीं है । जब तक वो

सम अवस्था में आकर आत्मा में विलय नहीं होंगे तब तक सच्चा आनन्द प्राप्त नहीं होगा । तो बार बार भगवान कृष्ण ने तथा सभी संत गुरुजनों ने यही समझाया है कि पहले मन की, बुद्धि की, चंचलता को खत्म करो । 'सम' में लाओ । दुःख-सुख जो भी आये उसमें समान रहो । महात्मा बुद्ध ने भी यही साधन लिया है । उन्होंने अगला साधन सम बुद्धि को आत्मा में लय करो । नहीं लिया कि भगवान कृष्ण ने जो साधन बताये वो ज्यादा व्यापक है और ज्यादा उपयोगी है । हमारी ज्यादा सहायता कर सकते हैं ।

मन और बुद्धि को सम करने के लिए आदत डालो, प्रतिक्रिया न करने की । मौन का मतलब यही है कि हम प्रतिक्रिया ना करे । सत्संग में बैठकर हमारी चंचलता खत्म नहीं होती जो सत्संग के बाहर क्या होगी ? किसी वक्त भी तो हम मौन नहीं बैठते । किसी की बुराई कर रहे हैं, किसी की स्तुति कर रहे है, कोई चीज़ हमें अच्छी लग रही है तो कोई बुरी यानि पल भर को भी मन शांत नहीं तो शरीर कहाँ से शांत होगा । तो भगवान कह रहे हैं मन में, बुद्धि में, पहले समता लाओ और उस सम बुद्धि को भीतर में, आत्मा में, या ईश्वर के चरणों में लय कर दो ।

गुरुदेव फरमाते रहे हैं कि इन पांच आवरणों के बाद आपको असली स्वरूप आत्मा का, जो परमात्मा का ही स्वरूप है, दर्शन सम्भव होगा । फिर आपको सच्चा सुख, सच्ची शांति, सच्चा आनन्द प्राप्त होगा । उससे पहले कुछ नहीं । महापुरुष कहते हैं - 'तत्वमसि'(तुम तो वही हो जो परमात्मा है) तुम परमात्मा का ही रूप हो । संसार भी परमात्मा का ही रूप है, तुममें भी वही गुण है जो परमात्मा में है । कुछ ज्ञानी कहते हैं - "अहम ब्रह्मास्मि" यानी मैं भी परमात्मा हूँ । अंतर ये है कि आत्मा एक कण मात्र है और परमात्मा विशाल है परन्तु है उसी का स्वरुप, वही गुण, वही रूप वही सब कुछ है । हमारे भीतर में जो आवरण है, जो पर्दे जो दीवारें खड़ी हुई है, वो हम हटाएंगे तो आत्मा परमात्मा में कोई अंतर नहीं रहेगा । आप सच्चिदानंद स्वरूप है । **'मन तू ज्योत स्वरूप है, अपना मूल पहचान'** । साधन यह है कि तुम स्वयं को पहचानो । तुम वास्तव में ज्योत स्वरूप हो । तुम वास्तव में ज्योत स्वरूप हो, सच्चिदानन्द रूप हो, परमात्मा का स्वरुप हो ।

विश्व-प्रेममय जीवनचर्या भी

प्रभु के पूजा के समान है

सामूहिक सत्संग कराने वाला गुरु अथवा आचार्य विचार विमुक्त होकर बैठता है वह यह जानता - समझता है कि मैं कुछ भी नहीं कर रहा, केवल मेरे गुरुदेव की, ईश्वर की कृपा बरस रही है । साधक भी विचारों से मुक्त होकर कोशिश करते रहे कि मन जितना भी हो कम से कमइधर-उधर भागे ।दृढ़ता के साथ बैठे । गुरु और शिष्य में जो द्वैत का भाव है वहजाता रहे, यह ख्याल नहीं करें कि हम दो हैं या एक है । कबीर साहब कहते है -

"एक कहूँ तो है नहीं, दूजा कहूँ तो गार ।

जैसा है तैसा रहे, कहै कबीर विचार ॥

यह द्वंद है । मन ही तो कहेगा कि वह एक है । और यही तो एक से अनेक हो जाता है । परमात्मा तो द्वैत से परे है इसलिए ही वह दो भी नहीं है - वह जैसा है वैसा ही रहता है ।

साधना उचित ढंग से हो रही है तो यह प्रश्न खत्म हो जाते हैं । यदि गुरु यह ख्याल करके बैठता है कि "मैं गुरु हूँ" तो सूफी लोग कहते हैं कि ऐसे गुरु की गर्दन काट देनी चाहिए । शिष्य यदि यह भावना लेकर बैठता है कि मैं हीन हूं, पतित हूँ, तो वह भी गलती करता है । सब भावनाओं से मुक्त होकर बैठना है । हमारे यहाँ का सत्संग तो प्रेम का साधन है । परमात्मा में अपने आपको लय कर देना है । इसमें द्वैत नहीं रह पाता । परन्तु थोड़े दिन के लिए एक दूसरे से इतना प्रेम करते हैं जिससे यह प्रेम बढ़ता-बढ़ता ईष्ट में समा जाता है । तब उस आयाम में हमारा अपना अस्तित्व ही नहीं रह जाता है ।

इसके लिए हम अपने में गुरु का, परमात्मा का, रूप देखें । हमारे कानों में जो स्वर पड़े वह ऐसा मालूम हो कि ओंकार की ध्वनि है । सबमें वही ध्वनि हो रही है, ॐ की ओंकार की । अनहद शब्द की झंकार हैं । भीतर ही नहीं, बाहर भी । बाहर में, सब ओर ईश्वर ही ईश्वर दिखाई दे । जिह्वा से जो शब्द निकले वह मधुर शब्द निकले, ईश्वर का प्रेम लिये हुए हो । हम जो भी व्यवहार करें दैवी गुणों को लेकर करें । और वह भी नितांत स्वाभाविक हो, अप्रयास हो । उसके लिए कोई विशेष प्रयास न करना पड़े ।

यह दशा बनी रही तो सहज समाधि कहलाती है । आँखें बंद है तब भी प्रेम है, बातचीत कर रहे हैं तब भी प्रेम है । सारा संसार हम में समाया है और हम सारे संसार में समाए हैं । यही विचार पुष्ट हो कर विश्व प्रेम की भावना हो जाती है ।

इस संबंधमें एक पौराणिक प्रसंग देखे गणेश जी माता के पास गए हैं । वह उदास बैठी हैं, वे कारण पूछते हैं - माता कहती कि तुम्हें मालूम नहीं मेरे पीठ तो देखो । देखा पीठ लाल पड़ गई है जैसे किसी ने पीटा हो । गणेश ने पूछा यह क्या हुआ । पार्वती जी कहते हैं कि 'तुमने अभी बिल्ली को पीटा था उसी के कारण मेरा यह हाल हुआ है' । पिटाई तो बिल्ली की हुई परंतु आघात पर्वती जी को पहुंचा । यह है प्रेम की सूक्ष्मता, व्यापकता ।

जरा इसको अच्छी तरह समझिए । क्या कभी हमारे लिए किसी और का, पड़ोसी का, समाज का, या किसी वंचित दलित, गरीब का दुख-सुख आपको ही हो जाता है ? सत्संग करके परमात्मा के साथ मिलन हो जाता है । परमात्मा के साथ एकता होने पर सब के साथ एकता हो जाती है । यह विश्व प्रेम की भावना है ।

महात्मा बुद्ध को संसार के दुखी होने का कष्ट था । वे परम ज्ञानी थे जिसको आत्मा परमात्मा का ज्ञान होता है, उसे 'बुद्ध' कहते हैं । उन्होंने १८ बार जन्म लिया । परन्तु उन के भीतर में तो व्याकुलता थी । संसार के दुखों को देखकर, वह दुखी होते थे और सोचते थे कोई ऐसी आसान पद्धति मिल जाए जिसको पाकर संसार मेरी तरह बुद्ध बन जाए ज्ञानी बन जाये, वृद्ध अवस्था के कष्ट से छूट जाए, शारीरिक रोगों से बच जाए, आदमी कठिनाई से मुक्त हो जाए, यानि जन्म मरण के बंधन से छूट जाए ।

महात्मा बुद्ध राजा के पुत्र थे । उनके पास धन-दौलत थी, सब सुख था, परंतु दुखी थे, चैन नहीं मिलता था । सभी जानते थे कि अपना घर परिवार तज कर उन्होंने कितना तप किया है, कष्ट उठाया है । तब जाकर उन्होंने एक इस सरल साधन की पद्धति को बताया । यह जो साधन पद्धति उन्होंने निकाली वह बड़ी सरल है ।

पातंजलि योग दर्शन में बड़ी कठिन साधनाएं हैं । बुद्ध के हृदय में यह इच्छा थी कि संसार को कोई एक सरल रास्ता बता दें । ताकि मानव को निर्वाण प्राप्त हो । जन्म-मरण के चक्र से निकल कर मोक्ष प्राप्त हो सके । यह निशानी है प्रेम की । यही विश्व प्रेम है । क्या कभी हमने भी सोचा है कि हमारे पडोसी का कष्ट मिटे, उसको आनंद मिले और वह सुखी रहे ?

हमारे इस वंश के महापुरुषों की यह विशेषता है, बरकत है कि जितना प्रेम इस सत्संग में दिया और पाया जाता है, शायद उतना बाहर नहीं है । हमारे साधन का, जीवन का लक्ष्य है हमारा आध्यात्मिक प्रेम । प्रेम महान है, बहुत ऊँची बात है । हमें प्रात: सायं साधना के लिए बैठ जाने से ही संतुष्ट नहीं होना है, ना ही कभी-कभी सत्संग में चले जाने से । हमें तो परमात्मा के सर्वोत्तम उपहार अर्थात इस प्रेम की ज्योति को सारे संसार में प्रकाशित करना होगा ।

विश्व प्रेम का प्रसार करना केवल गुरु का ही काम नहीं है, यह काम आप सबका है । काम का मतलब यह नहीं है कि किसी मंच पर जाकर आपको प्रवचन देना होगा या प्रचार करना होगा । हमें तो अपने जीवन को प्रेममय बनाना है । आपके संपर्क में जो भी आये उसके साथ जो भी व्यवहार हो, उसमें प्रेम हो, ईश्वर के प्रेम का प्रकाश हो, उसका विकास हो । घर में कुछ रूप में हैं, दफ्तर में कुछ रूप है, क्लब में जाते हैं कुछ और राजनीति में जाते हैं तो वहां कुछ और ही स्वरूप हो जाता है । ऐसा व्यक्ति साधना का जो लक्ष्य प्रेम है उसका अधिकारी नहीं बन सकता ।

हर स्थान और स्थिति में हमारा एक ही रूप होना चाहिए । राजनीति में जाने के लिए मनाही नहीं है, महात्मा गांधी की तरह आत्मिक शांति प्राप्त करके सभी के मन में भाई चारा और प्रेम सुगंध फैलाई । अफ्रीका में और फिर भारत में आखिरी सांस तक बैर-विरोध करने वाले कितनी कटु आलोचना और बेकार की बुराई तथा तरह तरह की उत्तेजना मिली महात्मा गांधी को । जीवन भर चाहे कितनी वेदना मिली उन्हें परन्तु उन्होंने अपने जीवन के सिद्धांत आदर्श को नहीं छोड़ा । उसी प्रकार हमें भी चाहिए कि परिवार में रहे, दफ्तर मे रहें, या अन्य किसी स्थान पर जाए, हमारा व्यवहार सब जगह, सबसे प्रेम का है । प्रेम की ज्योति को प्रकाशित और प्रसारित करते रहने का काम निरंतर चलता रहे ।

इसको स्वामी रामदास जी ने इस प्रकार बताया है कि जैसे अगरबत्ती स्वयं जलकर भी चारो और अपनी सुगंध फैलाती है, वैसे ही हम सब को अगरबत्ती जैसा आदर्श कायम रखना है । अपने प्रेम को, उसकी पवित्र सुगंध को, चारों ओर फैलाना है । अंतिम लक्ष्य जो हमारा है वो प्रेम है - 'आत्मिक प्रेम' , क्योंकि प्रेम ही परमात्मा है । Love is god, महात्मा बुद्ध ने इस प्रेम की स्थिति को इस प्रकार बताया है कि कोई संस्कार न हो, कोई विचार न हो, यही प्रेम का सच्चा स्वरुप है । मोक्ष का साधन है । संसार की आंधियां आये, दुःख सुख आये परन्तु हमारे भीतर की स्थिति शांत अविचलित रहे । हम प्रेम में ही स्थित रहे । प्रेम की सुगंध फैलाने

में विपरित परिस्थिति में भी अपना काम करते स्थिर रहें । यह बिना प्रेमा भक्ति के नहीं प्राप्त हो सकता । अहंकार भी हो और प्रेम भी चाहे, ऐसा हो नहीं सकता ।

प्रेम के लिए दीनता, सहनशक्ति एवं त्याग की भावना की आवश्यकता है । साधना के साथ, महापुरुषों की जो वाणी है, उनके जीवन-चरित्र जो कि प्रेम प्रसंगों से भरे होते हैं, उनका अध्ययन करना चाहिए, उन पर चिंतन-विचार करना चाहिए ।

वास्तव में गुरु के साथ सच्चा प्रेम है तो कुछ भी करने की जरूरत नहीं है । पूज्य लाला जी महाराज (महात्मा रामचंद्र जी, फतेहगढ़) ने पूज्य गुरुदेव परम संत (महात्मा श्रीकृष्ण लालजी महाराज) से गीता पढ़ने के लिए कहा । गीता लाई गई, दो-चार दिन गीता का उपदेश दिया, फिर कहने लगे, 'छोड़ो, भीतर की गीता पढो' । किन्तु यह बात केवल उन विशेष लोगों के लिए है जो अपना तन-मन-धन अर्थात पूरा जीवन गुरु के लिए न्योछावर कर देते हैं । ऐसे सम्पूर्ण समर्पित शिष्यों के लिए तो यह बात सरल है परंतु सामान्य व्यक्ति के लिए बड़ा कठिन और लगभग असंभव है ।

ईश्वर के गुणों का केवल गुणगान नहीं करना है अपितु उसके या गुरु के गुणों को धारण करना है । महापुरुषों की वाणी को पढ़कर उसे अपनाना है । यह कहना कि गुरू ही सब कुछ करेगा, परमार्थ नहीं है । या तो स्वयं को गुरु पर पूर्णत: न्योछावर कर दे, नहीं तो बीच का रास्ता अपनाएं, गुरु भक्ति को अपनाएं, उसके आदेशों का पालन करें और आत्मिक ज्ञान की प्राप्ति करें ।

एक महापुरुष से एक भक्त ने पूछा कि 'महाराज जी, हमें कौन सी साधना करनी चाहिए ? उन्होंने बड़ी सरलता से समझाया कि, 'एक सिपाही लड़ाई में जाता है तो उसके पास बंदूक भी है, पिस्तौल भी है, बारुद और हथगोला भी है, परंतु रणक्षेत्र में जब जिन हथियारों की आवश्यकता होती है उसी का इस्तेमाल करता है' । यही इसी तरह साधक की जैसी वृत्ति हो, जिस प्रकार का संस्कार हो, व्यवसाय हो, उन्हीं के अनुसार गुरुजन के गुण अपनाएं । दिन प्रतिदिन अपने आचार व्यवहार को सुधारें, भक्ति जीतनी हो सके करें, तब जाके वह प्रेमी जाने-अनजाने व्यक्तियों से बिना किसी भेद के सबसे प्रेम कर सकेगा - विश्व प्रेम के आयाम में प्रवेश पा सकेगा । उससे पहले नहीं ।'

यह प्रेम का रास्ता है । और यह प्रेम भी साधक के जीवन में दिनोंदिन निर्मल धारा की भांति बढ़ता जाए जो अपने उद्‌गम स्रोत अर्थात ईश्वरीय प्रेम से निकलकर, गुरु प्रेम के निर्झर समान दुर्गम पर्वतीय क्षेत्र की चट्टानों से टकराती, गिरती, छलछलाती हुई बढ़ती जाए । परिवार-कुटुम्ब और समाज रूपी दूर दूर तक फैले मैदानी क्षेत्रों को यह सींचती हुई प्रेम की धारा लहलहाती जाती है और ये विश्व प्रेम के अनंत अतल महासागर में समा जाती है ।

हमारी भारतीय संस्कृति के उच्च आदर्श के अनुसार तो हम सारे संसार के प्राणियों को अपने कुटुम्ब परिवार का ही मानते हैं - “वसुधैव कुटुम्बकम” । परन्तु यह प्रेम केवल कहने सुनने के लिए न हो, वास्तविक आचरण से भी प्रकट होनी चाहिए । ऐसा विश्व प्रेम भी ईश्वर की पूजा है ।

गुरुदेव सबका कल्याण करें ।

रामाश्रम सत्संग के अधिष्ठाता

परमपूज्य महात्मा रामचंद्र जी महाराज
द्वारा निर्देशित ईश्वर को पाने का निश्चित साधन

जिक्र ख़फी का जाप (दिल का जाप) किया करें ।

नाजिन्स, गैर आदमी और गैर सोहबत के नक्शों से दिल साफ करें ।

परमात्मा सिवाय किसी तरफ तवज्जो न करें ।

यकसुई (एकाग्रता)के साथ दिल को हाज़िर रखने का पक्का इरादा करें ।

सत्य और मालिक की तरफ उन्सियत और लगाव हासिल करें ।

अपने आप को मेट कर उसी में महब और लय हो जावें ।

इसी काम को करने में अपने आप को मिटा दें ।

असल पद पर पहुंचनें का सबसे ज्यादा नजदीकी रास्ता और यकीनी जरिया है ।

- मन से मुक्त होकर ज्ञान को अपना ज्ञान और ज्ञान वैराग्य और अनुराग दोनों से मुक्त होओ ।
- अज्ञान के कारण जो कर्तापन और भोक्तापन का भाव है वही सब मानसिक बीमारी का कारण है । हमारे मन में जब तक कर्ता भाव और भोक्ता भाव रहेगा तब तक कर्मों का चक्र और जन्म-मरण का चक्र चलता ही रहेगा ।
- मनुष्य की पांचों ज्ञानेंद्रियाँ और छठा मन, यह सब हीं बड़े प्रबल होते हैं । सबसे ज्यादा इंद्री जो मनुष्य को बड़ा खराब करती है, वह है उसकी आँख ।